

फरवरी 2025

आजकल

1945 से निरंतर प्रकाशित
साहित्य और संस्कृति का मासिक

कृष्णा सोबती
जन्मशती पर विशेष

अन्य आकर्षणों में

- उस्ताद ज़ाकिर हुसैन को श्रद्धांजलि
- व्यास सम्मान से सम्मानित सूर्यबाला तथा
साहित्य अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत गगन गिल
पर विशेष आलेख



योजना
विकास को समर्पित मासिक
(हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू व 10 अन्य भारतीय भाषाओं में)



प्रकाशन विभाग
सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

कुरुक्षेत्र
ग्रामीण विकास पर मासिक
(हिंदी और अंग्रेजी)

आजकल : साहित्य एवं संस्कृति का मासिक
(हिंदी तथा उर्दू)

बाल भारती : बच्चों की मासिक पत्रिका
(हिंदी)

घर पर हमारी पत्रिकाएं मंगाना है काफी आसान...

आपको सिर्फ नीचे दिए गए 'भारत कोष' के लिंक पर जा कर पत्रिका के लिए ऑनलाइन डिजिटल भुगतान करना है-
<https://bharatkosh.gov.in/Product/Product>

सदस्यता दें

प्लान	योजना या कुरुक्षेत्र या आजकल		बाल भारती	
वर्ष	साधारण डाक	ट्रैकिंग सुविधा के साथ	साधारण डाक	ट्रैकिंग सुविधा के साथ
1	₹ 230	₹ 434	₹ 160	₹ 364

ऑनलाइन के अलावा आप डाक द्वारा डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर से भी प्लान के अनुसार निर्धारित राशि भेज सकते हैं। डिमांड ड्राफ्ट, भारतीय पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर "अपर महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय" के पक्ष में नई दिल्ली में देय होना चाहिए।

अपने डीडी, पोस्टल आर्डर या मनीआर्डर के साथ नीचे दिया गया "सदस्यता कूपन" या उसकी फोटो कॉपी में सभी विवरण भरकर हमें भेजें। भेजने का पता है- संपादक, सर्कुलेशन (प्रसार) एकांश, प्रकाशन विभाग, कक्ष सं. 779, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

अधिक जानकारी के लिए ईमेल करें- pdjucir@gmail.com

हमसे संपर्क करें- **फोन : 011-24367453** (सोमवार से शुक्रवार सभी कार्य दिवस पर प्रातः साढ़े नौ बजे से शाम छह बजे तक)

कृपया नोट करें कि सदस्यता शुल्क प्राप्त होने के बाद सदस्यता शुरू होने में कम से कम आठ सप्ताह लगते हैं।
कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें और पत्रिका न मिलने की शिकायत इस अवधि के बाद करें।

सदस्यता कूपन (नई सदस्यता/नवीकरण/पते में परिवर्तन)

कृपया मुझे 1 वर्ष के प्लान के तहत पत्रिका भाषा में भेजें।

नाम (साफ व बड़े अक्षरों में)

पता :

..... जिला पिन

ईमेल मोबाइल नं.

डीडी/पीओ/एमओ सं. दिनांक सदस्यता सं.

जन्मशताब्दी

- 8 कृष्णा सोबती का रचना-संसार और 'पाठक-समय' : प्रयाग शुक्ल
- 15 नियमों और अतिक्रमणों के बीच : सविता सिंह
- 26 स्त्री विमर्श और कृष्णा सोबती की कहानी 'बहनें' : अल्पना मिश्र
- 36 स्त्री चेतना का चैतन्य : किरण मिश्रा
- 39 'जिन्दगीनामा' में लोक-संस्कृति पल्लवी प्रकाश
- 44 उस 'लौ' के सिरहाने : विपिन चौधरी
- 49 औपचारिकता और ऊपरी आधुनिकता से कोसों दूर : अरविंद त्रिपाठी
- 54 वह 'फिर' जो फिर कभी नहीं आया : कविता



स्मरण

- 58 जानकीवल्लभ शास्त्री - समकालीनों से अलग कवि : रामप्रवेश सिंह

संस्मरण/आलेख

- 64 सूर्यबाला - लिखना मेरे लिए तीर्थाटन जैसा है... निर्मला डोसी
- 70 गगन गिल : आत्मखोज के आयाम ब्रजरतन जोशी

कहानी

- 75 आदर्श : सुषमा मुनीन्द्र

कविताएँ/नवगीत

- 57 नदियाँ : राजेन्द्र उपाध्याय
- 57 स्पर्श : अनुपम परिहार
- 63 शीत ऋतु : शिवाकान्त मिश्र 'विद्रोही'

पहली उड़ान

- 69 तू न होती : संजीत कुमार 'जल'

वातायन

- 80 अल्बानियाई कविताएँ : फर्डिनेंड लहोली
अनुवाद : बालकृष्ण काबरा 'एतेश'

श्रद्धांजलि

- 82 शून्य जो कभी भरा नहीं जा सकेगा : राजेन्द्र शर्मा

स्पर्धा आजकल

- 86 संस्कृत के नाटकों में विदूषक : शंकरलाल शास्त्री

विविध रंग

- 94 जिरोती : निमाड़ की लोक चित्रकला
अखिलेश कुमार मौर्य



पुस्तक आजकल

- 99 भारत के दुर्ग : ममता रानी
- 100 हिन्दी सिनेमा के नायाब क्रिस्से : इंद्रजीत सिंह
- 102 अंतर्निहित लय की कविता : ऋषिकेश
- 104 इंद्रधनुषी रंगों से रंगी कहानियाँ : सूर्यकांत शर्मा

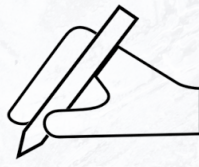
साहित्यिक गतिविधियाँ

- 106 रजनीश पाण्डेय

सामाजिक रूढ़ियों और पितृसत्तात्मक व्यवस्थाओं को चुनौती देता कृष्णा सोबती का लेखन, सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों में महिलाओं, उनके अधिकारों और संघर्ष को एक नई पहचान, नया स्वरूप तथा नई दृष्टि प्रदान करता है। उनके साहित्य में उनका साहसी, आत्मनिर्भर और विचारशील व्यक्तित्व साफ़ तौर पर प्रतिबिम्बित होता है। अपनी स्वतन्त्र सोच और मुखर विचारों के कारण ही वे अपने समकालीन लेखकों के बीच अद्वितीय स्थान रखती थीं। नैतिक मूल्यों से कभी समझौता न करने वाली सोबती का जीवन सादगी और आत्म-अनुशासन का उदाहरण था। 18 फरवरी 1925 को झेलम और चिनाब नदियों के बीच बसे पाकिस्तान के प्राचीन शहर गुजरात में जन्मी कृष्णा सोबती ने विभाजन के दंश को झेला था, और इसके दर्द और परिणाम को उन्होंने बेहद प्रभावशाली ढंग से अपनी कृतियों में व्यक्त किया। उनके साहित्य में भारतीय समाज के विभाजन, जाति-व्यवस्था, और पितृसत्ता के मुद्दों को उठाया गया। 'डार से बिछुड़ी' उपन्यास में उन्होंने मानवीय संबंधों और पहचान के संकट को प्रस्तुत किया, वहीं 'मित्रो मरजानी' में नारी की इच्छाओं और उनकी अस्मिता को बेबाकी से प्रस्तुत किया। उनका उपन्यास 'जिन्दगीनामा' ग्रामीण भारत की संस्कृति, संघर्ष और सामूहिकता का ऐतिहासिक दस्तावेज है।

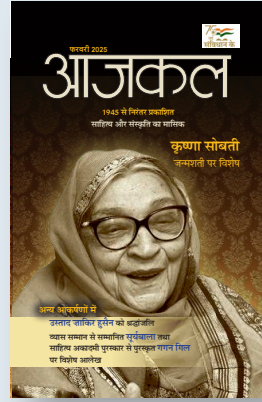
कृष्णा सोबती का साहित्यिक सफ़र सात दशकों से अधिक समय तक चला। राजस्थानी, पंजाबी और उर्दू का मेल उनके लेखन को विशिष्ट बनाता है। उनकी भाषा बोलचाल के करीब थी, लेकिन उसमें साहित्यिक गहराई और सौन्दर्य भी था। उपन्यास हो या कहानी, या फिर निबंध सभी विधाओं में अपने लेखन से यथार्थ को जीवंतता के साथ पाठकों तक प्रस्तुत करने में वे सफल रहीं। कृष्णा सोबती की जन्मशताब्दी केवल उनके जीवन का उत्सव नहीं है, बल्कि उनके विचारों और लेखन को पुनः समझने और नई पीढ़ी तक पहुँचाने का समय भी है। 'आजकल' के इस अंक में वर्तमान और भविष्य के लिए उनके अप्रतिम योगदान पर विभिन्न आलेखों से स्मरण किया गया है।

तबले को केवल एक वाद्य यन्त्र नहीं, बल्कि एक जीवंत संवाद का माध्यम बनाने वाले उस्ताद जाकिर हुसैन को श्रद्धांजलि आलेख भी इस अंक में है। उनकी हाथों की उँगलियों और हथेली की थाप से तबले पर बजने वाला हर सुर श्रोताओं को एक अलौकिक संसार में



ले जाता था। उन्होंने पं. रविशंकर, उस्ताद अमजद अली खान और पं. शिवकुमार शर्मा जैसे महान कलाकारों के साथ जुगलबंदी की और भारतीय शास्त्रीय संगीत को विश्व मंच पर नई पहचान दिलाई। ज़ाकिर हुसैन का जन्म 9 मार्च, 1951 को मुम्बई में हुआ। वे तबला वादक उस्ताद अल्लारखा के पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता से ही तबला वादन की शिक्षा ली और अपने कठिन परिश्रम और समर्पण से इसे नई ऊँचाइयों तक पहुँचाया।

छायावाद के बाद की काव्यधारा के एक प्रतिष्ठित और सम्मानित कवि, लेखक और संगीतकार जानकीवल्लभ शास्त्री का जन्म दिवस भी इसी माह है। उनकी रचनाओं में कविता, निबंध, उपन्यास और आलोचना सभी शामिल हैं जो भावनात्मक गहराई, सांस्कृतिक चेतना और मानवीय संवेदनाओं का अद्भुत संगम है। उनकी कृतियों में भारतीय संस्कृति, प्रकृति प्रेम और मानवीय संवेदनाएँ प्रमुखता से उभरती हैं। उन्होंने संस्कृत साहित्य के कई ग्रंथों का भी हिन्दी में अनुवाद किया। उन पर रोचक आलेख के अलावा इस अंक में शामिल सभी आलेखों पर अपने पत्रों और बेबाक राय से हमें अवश्य अवगत कराएँगे, ऐसी आशा है!



मुख्य सम्पादक : कुलश्रेष्ठ कमल

सम्पादक : फ़रहत परवीन

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार

सम्पादक आजकल

प्रकाशन विभाग,

कमरा नं. 601डी, सूचना भवन,

सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

दूरभाष : 011-24362915

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) : डी.के.सी. हृदयनाथ

आवरण सज्जा : बिंदु वर्मा

आजकल वर्ष भर घर में गाने के लिए स्कैन करें QR कोड



वार्षिक शुल्क ट्रेकिंग सुविधा के साथ ₹434 और सामान्य डाक से मात्र ₹230

आजकल की सदस्यता लेने, पुराने अंक मँगाने, पत्रिका न मिलने की शिकायत या फिर विज्ञापन के लिए सम्पर्क करें-

फोन - 011-24367453 (सोमवार से शुक्रवार प्रातः 9:30 से 6:00 बजे तक)

अथवा pdjucir@gmail.com पर ईमेल करें या लिखें-

अभिषेक चतुर्वेदी, सम्पादक (प्रसार),

पत्रिका एकांश, प्रकाशन विभाग, कमरा नं. 779,

सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स,

लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

प्रकाशन विभाग के विक्रय केन्द्रों की सूची पृष्ठ 68 पर



www.publicationsdivision.nic.in



www.facebook.com/publicationsdivision



@DPD_India



@dpd_india



ajkalhindi@gmail.com



उत्तम एवं उपयोगी

जनवरी, 2025 अंक में राजेन्द्र गौतम द्वारा लिखित स्मरण 'जैनेन्द्र की नज़र में प्रेम, विवाह और स्त्री' में जैनेन्द्र को एक नए सिरे से देखने का मौक़ा मिला। स्मरण की विशेषता ऐसी है कि पढ़ने की शुरुआत करने के बाद पाठक अंत में ही रुकेगा। नए पाठकों को अगर जैनेन्द्र को समझना है तो यह स्मरण लेख उसके लिए बहुत ही उत्तम और उपयोगी है। जैनेन्द्र से सम्बन्धित हर ज़रूरी बात को बहुत सरल और स्पष्ट शब्दों में पाठक यहाँ पढ़ सकता है।

-मनोज कुमार शर्मा, मुम्बई (महाराष्ट्र)

कवि सम्मेलन के आकर्षण

जनवरी, 2025 अंक में नीरज के जन्मशती पर उन्हें केन्द्र में रखकर अच्छे लेख समर्पित हैं। नीरज सिनेमा और मंच के गीतकार रहे। नीरज जहाँ अपने लोकप्रिय गीतों से कवि सम्मेलन के आकर्षण रहे, वहीं सिनेमा में शैलेन्द्र के साहित्यिक अभाव को भरा। 'कारवाँ गुज़र गया' से उनकी पहचान बन गई। 'बच्चन' के बाद किसी गीतकार को लोकप्रियता मिली और पाठ्यक्रम में स्थान, वो नीरज ही थे। कक्षा आठ में 'नवभारती' में नीरज का गीत 'जलाओ दीये

पर रहे ध्यान' इतना अंधेरा धरा पर कहीं रह न जाए, 'आज भी दिलो दिमाग़ में बसा है। सिनेमा में इतना सफल साहित्यिक गीतकार और कोई नहीं हुआ क्योंकि हरिवंशराय बच्चन पूरे तौर पर साहित्य के रहे' सिनेमा के लिए गीतकार नहीं बने। सम्मान भरपूर मिला लेकिन साहित्य समीक्षा में उपेक्षित रहे, ये विचारणीय है। जैनेन्द्र इलाचन्द्र जोशी के समकक्ष प्रेम को केन्द्र में रखकर लिखने वाले उपन्यासकार रहे। आधुनिक हिन्दी खड़ीबोली के शलाका साहित्यिक भारतेन्दु का मूल्यांकन एक शायर 'रसा' तख़ल्लुस के रूप में अनजाना है, उसको बख़ूबी असद रज़ा ने उकेरा है क्योंकि हिन्दी में उन्हें ब्रजभाषा के कवि 'हरिचन्द्र' के रूप में ज़्यादा मान्यता मिली जबकि अपने समय का इतना बहुमुखी साहित्यिक कोई नहीं है। सुरेन्द्र राजन ने गाँधीजी का किरदार अनेक फ़िल्मों में किया, ये जानकारी बहुत कम लोगों को होगी। प्रगतिवादी त्रयी के केदार पर लेख उनके प्रेम के स्थायी रूप को दर्शाता है। बंगाल के 'टुसू' पर्व का सांस्कृतिक विरासत को अंकित करना इस अंक की शोभा है।

-यशवन्त पाल सिंह, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

समृद्ध और पठनीय

इन दिनों 'आजकल' बहुत बढ़िया निकल रहा है। समृद्ध, पठनीय और रुचिकर। टीम को बधाई! नीरजजी पर संक्षिप्त संस्मरण अच्छा लगा। नीरज पर योगेन्द्र दत्त शर्मा का लेख और अन्य सभी लेख उच्च कोटि के हैं। जीवनानन्द दास की बाँग्ला कविताएँ अति मार्मिक हैं। नीरज की हस्तलिखित कविता भी आकर्षित व प्रभावित करती है। शुभ कामनाएँ!

-सुभाष सेतिया, नई दिल्ली

उत्साहवर्धन के लिए बहुत-बहुत आभार, आशा है आगे भी मार्गदर्शन प्राप्त होता रहेगा।

-आजकल टीम

(श्री सुभाष सेतिया 'आजकल' के सम्पादक रह चुके हैं।)

उत्कृष्ट अंक

'आजकल' के दिसम्बर, 2024 अंक में हिन्दी सिनेमा के शो मैन कहे जाने वाले निर्माता-निर्देशक और अभिनेता राज कपूर और गायक मोहम्मद रफ़ी के जन्मशताब्दी पर विशेष आलेख देकर तथा पुण्य तिथि पर मोहन राकेश को याद कर अच्छा कार्य किया है। राज कपूर को एक शो मैन से अधिक मैं हिन्दी सिनेमा का आधार-स्तंभ मानता हूँ। अपनी कला, प्रतिभा और श्रम की बदौलत उन्होंने फ़िल्मी दुनिया का एक बड़ा भवन तैयार किया। मैंने उनकी निर्मित कई फ़िल्में देखी लेकिन एक फ़िल्म 'खान दोस्त' देखी जिसमें हवलदार की भूमिका में उनका अभिनय भूलता नहीं है। प्रदीप सरदाना ने अपने लेख में राज कपूर को बड़ी शिद्दत से याद किया है।

नोबेल पुरस्कार प्राप्त महिला साहित्यकार हान काँग पर दिविक रमेश का लेख श्रेष्ठ है। हान काँग ने अपने उपन्यास 'द विजेटेरियन' में शाकाहार का समर्थन करने वाली महिला का कठोर जीवन संघर्ष दिखाया है। इस उपन्यास में दो बहनों की असफल शादियों की मार्मिक कहानी भी है। इसी अंक में जय प्रकाश पाण्डेय का लिखा ललित निबन्ध 'बड़का फूला' बहुत अच्छा लगा। ईख से गुड़ बनाने का उद्यम अच्छा लगा। गाँव में बचपन में ईख से निकले राब और गुड़ चखने की यादें ताज़ा हो आईं।

श्याम बेनेगल पर अर्पण कुमार का पूरा लेख पढ़ पाते कि वे 23 दिसम्बर, 2024 को हमसे विदा हो गए। वे ऐसे फ़िल्म निर्देशक थे जिन्होंने परम्परा और बने-बनाए ढाँचे से अलग हटकर काम किया और अपनी अलग पहचान बनाई। उनका एक बड़ा दर्शक वर्ग है जो उन्हें कभी भूल नहीं सकता। अन्य लेख, कहानियाँ, कविताएँ उत्कृष्ट व पठनीय हैं।

-आनन्द स्वरूप श्रीवास्तव, रायबरेली (उत्तर प्रदेश)

'पुस्तक आजकल' में समीक्षा के प्रकाशन हेतु पुस्तक की दो प्रतियाँ 'आजकल' कार्यालय के पते पर भेजना अनिवार्य है। पाठकों के समक्ष निष्पक्ष मूल्यांकन प्रस्तुत करने के उद्देश्य से समीक्षा के लिए समीक्षकों को पुस्तक आबंटन 'आजकल टीम' द्वारा ही किया जाएगा।

लिखने का कचूमर निकालने की आदत कभी बनी ही नहीं। मात्र लिखने के लिए लिखना, यह मेरे निकट कभी घटित नहीं हुआ। लिखित में दोहराने से बहुत कतराती हूँ, वैसे मैं महाकामचोर भी हूँ। स्वभावगत अपने आस-पास कार्यकारी फैलाव भी इतना फैलाए रहती हूँ कि उसमें कोई भी परिवर्तन धावा बोलता न दीखे। सभी कुछ धीरे-धीरे। जल्दी सिर्फ उसमें जहाँ सचमुच ही जरूरत हो।... आसानी से मैं अपने ऊपर रचना का दबाव बनने नहीं देती। इस बीच ऊपर-नीचे जो भी होता रहता है, होता रहे। सच यह भी कि लेखक चाहे कितना तीसमार खाँ क्यों न हो, लिखना टेढ़ी खीर है। वह अपने सिवाय जाने-अनजाने किस-किसका बोझ उठाए रहता है।



प्रयाग शुक्ल

ई-मेल : prayagshukla2018@gmail.com

कृष्णा सोबती का रचना-संसार और 'पाठक-समय'

सोबतीजी के कथा-संसार ने बहुतों को मोहा है। उनके गद्य को सराहने वालों की कमी नहीं। उनके पात्रों के अपने 'तेवर' और अंदाज़ हैं, जिसे हम 'मित्रो मरजानी' और 'ए लड़की' में विशेष रूप से देख सकते हैं। उनके कथा-संसार में व्यक्त अनुभव सिर्फ अनगिनत ही नहीं, अत्यंत मर्म भरे हैं। यह भी गौर करने वाली बात है कि पीढ़ियों ने उनको पढ़ा और सराहा है, और उनके जाने के बाद उनके कथा-संसार के प्रति आकर्षण कम नहीं हुआ, बढ़ा ही है और यह मानने के सभी कारण हैं कि उनकी कृतियाँ कभी पुरानी नहीं पड़ेंगी। जिस 'ताज़गी' वाले अंदाज़ में उनकी रचना हुई है, वह ताज़गी बरकरार रहेगी। उनकी उपस्थिति जितनी प्रभावपूर्ण थी सामाजिक ताने-बाने में, साहित्य जगत में, उसका प्रभाव और उसकी प्रभा, कम होने में नहीं आएँगे। उनके जन्मशती-वर्ष में, हम यह भी पाएँगे कि उनके लेखन के अलावा उनका 'बोला', 'कहा' हुआ भी हमारी स्मृति में उभरेगा। उन पर जो लिखा हुआ पहले से उपलब्ध है, उसमें और भी नई चीज़ें जुड़ेंगी।

सोबतीजी का पाठक वर्ग बहुत बड़ा है। इसके प्रमाण समय-समय पर मिलते रहे हैं। अब 'गूगल' में कोई सोबतीजी की किसी कृति का नाम टाइप करे तो उस पर कई पाठकों के विचार और टिप्पणियाँ पढ़ने को मिल जाते हैं। यह भी गौर करने लायक बात है कि उन्होंने अपने लेखकीय जीवन के प्रायः हर चरण में, नई-पुरानी पीढ़ियों को नई कृति कृतियाँ दी हैं और वे सिर्फ अपनाई

और सराही नहीं गई हैं, बेहद चर्चित भी हुई हैं। 'डार से बिछुड़ी' से शुरू करें तो 'यारों के यार', 'मित्रो मरजानी', 'जिन्दगीनामा', 'ऐ लड़की', 'दिलो-दानिश', 'समय सरगम' और बीच की एक और 'सूरजमुखी अंधेरे के' तथा ताज़ातरीन 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' (उपन्यास) समेत उनकी कहानियाँ, उनके लेख, उनके यात्रा वृत्तांत, उनकी संस्मरणात्मक कृतियाँ गद्य का एक नया स्वाद लेकर आती रही हैं और न जाने कितने जीवन मर्म, कितनी सरलता और गहराई से उद्घाटित करती रही हैं। उन्होंने कोई नाटक चाहे न लिखा हो, पर उनकी हर कृति के संवाद, मानो याद दिलाते रहे हैं कि नाटक के भी कितने ही तत्त्व उनकी कृतियों में हैं। अचरज नहीं कि जब-जब उनकी कोई कृति जैसे कि 'मित्रो मरजानी', 'ऐ लड़की' रूपांतरित होकर मंच पर उतरी हैं, उन्हें बहुतेरे दर्शक मिले हैं और (18 फरवरी 1925 - 25 जनवरी 2019) तत्काल बधाई देने पहुँचा था। थियेटर की दुनिया में भी कुछ नई तरंगें उन्होंने उठाई हैं। कहाँ भूला हूँ मित्रो के रूप में हिमानी शिवपुरी के अभिनय को और उस मंचन को मिलने वाली हलचलमयी प्रतिक्रियाओं को, जिसे निर्देशित किया था बी.एम. शाह ने। फिर इसे 'अंक' (मुम्बई) ने भी किया। मित्रो की भूमिका में थीं प्रीता माथुर ठाकुर और जब देवेन्द्र राज अंकुर जैसे सुपरिचित निर्देशक ने 'ऐ लड़की' को मंचित किया तो वह भी बनी एक घटना। इससे पहले भी अंकुरजी ने



कृष्णा सोबती

ही 1982 में 'डार से बिछुड़ी' का भी मंचन श्रीराम सेंटर रिपटरी के लिए किया था, जिसमें अभिनय किया था सुमन अग्रवाल और चर्चित नाम शेखर सुमन ने। वह तब श्रीराम सेंटर की रिपटरी में ही थे। सोबतीजी की कृतियों के मंचित होने के और भी कई उदाहरण हैं। और कविता! वह मानो लिखी है उन्होंने अपने गद्य में ही। तो उनका गद्य, जितना गद्य है, वहीं अपने स्वाद में वह कविता और नाटक भी है।

पचहतर वर्षों के लेखकीय जीवन में वह हर बार एक नई स्फूर्ति के साथ ही तो उपस्थित हुई हैं। तीरानवे वर्ष की अवस्था में सोबतीजी की एक और औपन्यासिक कृति छपी थी— 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान', जो उनकी ग़ज़ब की स्मरण शक्ति दर्शाती थी और जो मानो एक लेखक की रचना-प्रक्रिया के बारे में भी बहुत कुछ बताती थी। एक बार जब वे एक सभा में बोल चुकी थीं तो मैं उनके पास

तो उस प्रशंसा को कुछ परे रखते हुए उन्होंने कहा था, जब भी किसी सभा में जाना होता है, एक बात मेरे मन में हमेशा सबसे ऊपर रहती है, कि सभा में कितने ही लोग, अपना समय हमें दे रहे हैं। हो सकता है, कुछ कोई ज़रूरी कामकाज छोड़कर भी आए हों, तो उनके समय का सम्मान तो होना ही चाहिए।

उनकी ओर से ये जो बातें मैंने यहाँ लिखी हैं, उनके शब्द यही नहीं थे पर, आशय यही था।

एक 'तैयारी' उनके यहाँ मानो हर चीज़ के लिए रही है। लिखने का कागज़ ख़रीदने से लेकर, उस लिखे हुए को सँवारने तक में!

कहीं उन्होंने दर्ज किया है कि 'जिन्दगीनामा' लिख लेने के बाद, जब उन्होंने उसको पढ़ा, तो शुरुआत ठीक नहीं लगी। लगा उन्हें, कि नहीं, जो कहना था यह कहा नहीं जा सका है और तब उभरा था कई दिनों के बाद यह वाक्य जिसका आशय है, 'हर संतति अपने पिता का अवतार होती है।'

उन्होंने समय-समय पर अपनी रचना-प्रक्रिया पर किसी-न-किसी रूप में कुछ दर्ज किया है, और उससे यही बात उभरी है कि चाहे अवचेतन में पड़ी हुई चीज़ें हों या सोची-विचारी-सफ़ेद काग़ज़ पर अपनी क़लम उन्होंने तभी चलाई है, जब उन्हें लगा है कि उसमें भरी हुई 'स्याही' के साथ ही वह सब भी 'भर' चुका है, जिसका बख़ान किया जाना है। 'सोबती वैद संवाद' नाम की महत्वपूर्ण पुस्तक (राजकमल प्रकाशन : पहला संस्करण 2007) जिसमें सोबतीजी और कृष्ण बलदेव वैद के बीच का संवाद दर्ज है कई विषयों पर, उसमें एक जगह (पृष्ठ 23) वह कहती हैं, "मुझे आराम करने की बुरी लत है और मौक़ा आने पर काम करने की इच्छा भी। पाँच-छह साल के बच्चे से अगर कुछ कहने को हो और जो कहीं से उतरे उसे लिखना। लिखने का कचूमर निकालने की आदत कभी बनी ही नहीं। मात्र लिखने के लिए लिखना, यह मेरे निकट कभी घटित नहीं हुआ। लिखित में दोहराने से बहुत कतराती हूँ, वैसे मैं महाकामचोर भी हूँ। स्वाभावगत अपने आस-पास कार्यकारी फैलाव भी इतना फैलाए रहती हूँ कि उसमें कोई भी परिवर्तन

धावा बोलता न दीखे। सभी कुछ धीरे-धीरे। जल्दी सिर्फ़ उसमें जहाँ सचमुच ही ज़रूरत हो।... आसानी से मैं अपने ऊपर रचना का दबाव बनने नहीं देती। इस बीच ऊपर-नीचे जो भी होता रहता है, होता रहे। सच यह भी कि लेखक चाहे कितना तीसमार ख़ाँ क्यों न हो, लिखना टेढ़ी खीर है। वह अपने सिवाय जाने-अनजाने किस-किसका बोझ उठाए रहता है। जाने-पहचानों का-अनजानों का, जिन्हें पात्र के रूप में सही नाम देने के लिए ख़ासा सोचना-समझना पड़ता है। अपनी बात कहूँ तो यह काम मुझे सबसे पहले आश्वस्त करता है, फिर पात्र को सजीव रूप देता है और कहानी चल पड़ती है।"

हाँ, हम जो उनके पाठक हैं एक लम्बे अरसे से वे उनके पात्रों को उनके नाम के साथ अपने सामने सजीव ही तो पाते हैं। 'मित्रो' को, 'ऐ लड़की' को (मानो यही उसका नाम है) और भी कई अन्य पात्रों को! उनका सजीव होना सिर्फ़ इसलिए नहीं होता कि उनके रंग-रूप-स्वभाव-प्रकृति-परिवेश का कुछ वर्णन वे हमें ज़रूर देती हैं— कथा कहने के साथ स्वाभाविक रूप से वे सजीव लगते हैं तो इसलिए भी कि उनकी अपनी एक 'भाषा' में हम उन्हें 'सुनते हैं'। और इस तरह मानो हम उनके पाठक ही नहीं श्रोता भी बन जाते हैं!

भाषा! हाँ, वह सोबतीजी के लेखन में एक विशिष्ट भूमिका निभाती है। 'रेणु' के यहाँ अगर भाषा आँचलिक है, तो सोबतीजी के यहाँ वह 'परिवारगत' है। पारिवारिक इस अर्थ में कि उनके पात्र, अपने को एक 'परिवारगत' परिवेश से भी जोड़े रखते हैं, जो उन्हें एक 'पहचान' भी देता है, और उनके संस्कारों,

नैतिक आग्रहों और उनके सामाजिक दृष्टिकोण को भी कहीं-न-कहीं प्रकट करता है। 'परिवार' या 'पारिवारिक परिवेश, सोबतीजी की कृतियों में किसी 'काल-खण्ड' विशेष की सूचना भी देते हैं, पर, मनुष्य जीवन के आदि-स्रोतों से, विच्छिन्न होकर नहीं। 'जिन्दगीनामा' समेत सभी कृतियाँ मानो इसी को या इसको भी, संकलित करती हैं। इससे होता यह है कि उनके पाठक हम, जीवन को उसके सतत प्रवाह में भी देखने लगते हैं, और किसी काल-खण्ड में (भी) घटित हो रहे जीवन को। फोकस दोहरा हो जाता है!

'ऐ लड़की' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। माँ-बेटी के संवाद में, जीवन-जगत-समाज-प्रकृति के बहुतेरे प्रश्नों-विमर्शों को हम उभरता हुआ देखते हैं। एक सतत प्रवाही जीवन का— आदिकाल से चले आ रहे जीवन का, एक बोध, एक भान बना रहता है, इसी के साथ ध्वनित होता रहता है, वह 'समय' जो माँ-बेटी का है। इस अर्थ में 'समय' शब्द उनके यहाँ, बहुत अर्थगर्भी हो जाता (रहा) है। 'दिलो दानिश' का एक अपना समय है। 'समय सरगम' का तो अपना है ही!

मेरा भाग्य कि सोबतीजी ने अपने सम्पादकों (जिन्होंने किसी पत्र-पत्रिका में उनकी चीजें प्रकाशित की हैं) के नाम गिनाते हुए एक जगह मेरा नाम भी लिया है। जब मैं 'रंग-प्रसंग' का सम्पादक था तो सोबतीजी ने मेरे आग्रह पर कृपापूर्वक कुछ सुन्दर रचनाएँ उसके लिए लिखी थीं। और जब 'कल्पना काशी' अंक का सम्पादन किया तो मुझे यह लगा था कि 'कल्पना' पर वही एक खरी और संवेदना सिक्त टिप्पणी लिख सकती हैं। वह उन्होंने लिखी और उन्होंने उसका शीर्षक दिया

'कल्पना समय'! प्रस्तुत है उस टिप्पणी की कुछ पंक्तियाँ—

“‘कल्पना’ एक बड़े लेखकीय परिवार की निजता और उसकी सार्वजनिक सामाजिकता को रेखांकित कर रही थी। बौद्धिक स्तर पर कल्पना नए लोकतान्त्रिक समाज के व्यक्तित्व और सामूहिक चेतना को उबारने में तत्पर थी।”

“उन दिनों किसी भी छोटे-बड़े, प्रौढ़-युवा लेखक का 'कल्पना' में प्रकाशित होना उसकी रचनात्मक सम्भावनाओं को ही प्रकट करता था।”

“सीमित साधनों के सहज संयमित प्रकरण धीरे-धीरे मौन होने लगे और दूर से आती आहटों ने गम्भीर साहित्यिक प्रकाशनों पर रंगारंग पेचीदा सूक्ष्म तन्तुओं से प्रहार करने शुरू कर दिए। हम यदि इस आज के और उस समय के बीच का अंतर देख सकते हैं तो क्या सचमुच ऐसे में कल्पना कहीं ओझल हुई!”

मैं अकसर यह सोचता हूँ कि हिन्दी में आधुनिक काल में, बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों से शुरू करके, जिनमें 'प्रसाद', 'निराला', 'प्रेमचन्द', 'गुलेरी', 'सुमित्रानन्दन पन्त' और महादेवी हैं, और फिर हैं 'अज्ञेय', मुक्तिबोध, नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर, 'रेणु', कृष्णा सोबती, कुँवर नारायण, निर्मल वर्मा— (इस सूची में और भी कई नाम जोड़े ही जाने चाहिए)— वह हिन्दी वास्तव में कितनी समृद्ध है और हम पाठक इन सबके कितने कृतज्ञ हैं कि इन्होंने हिन्दी को इतना समृद्ध किया है। इतने रूपों में सँवारा है। गढ़ा है, कि हम किसी भी मोड़ पर इनको पाकर, इनको पढ़कर अपने को समृद्ध करते रह सकते हैं। इन सब नामों की अपनी महिमा और गरिमा है

पर, सोबतीजी के सन्दर्भ में यह बात रेखांकित करने वाली लगती है कि हिन्दी को, खड़ी बोली को हर बार, हर कृति के साथ, उन्होंने मानो नए सिरे से आविष्कृत किया है। उनकी किसी भी कृति की तुलना, भाषा-व्यवहार के मामले में उन्हीं की किसी दूसरी कृति से भी की ही नहीं जा सकती! यह मानो किसी चमत्कार से कम नहीं! 'डार से बिछुड़ी' की भाषा अलग, 'जिन्दगीनामा' की अलग, 'मित्रो मरजानी' की अलग, 'यारों के यार' की अलग, 'ऐ लड़की!' की अलग, 'दिलो दानिश' की अलग, 'गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिन्दुस्तान' की अलग।

भाषा के इतने रूप उन्होंने सजाए—सँवारे हैं, इतने ताज़गी भरे रंग से, कि वह (भाषा) हमेशा 'ताज़ा' ही लगती है! और यह तब, जब भाषा में ज़बरदस्ती किसी आरोपण का दोष हम उन पर नहीं मढ़ सकते! और एक लेखक के नाते उनका 'आधुनिकता' बोध ऐसा कि यह न तो वृहतर 'लोक' से बिछुड़ा हुआ लगता है, न ही सृष्टि के प्राकृतिक उपादानों से। महानगरीय जीवन के बीच, यह 'सृष्टि आह्वान' भी कम चमत्कारिक नहीं है।

यह सम्भव हुआ है तो जीवन को खुली नज़रों से देखने से, उस विस्मय भाव से, जो जीवन की सुन्दर चीज़ों के प्रति उनमें बना ही रहा है। अच्छे परिवर्तनों को उन्होंने सहज स्वीकारा है। वर्गों और समुदायों की कुंठाएँ, संकीर्णताएँ तोड़कर जब नई पीढ़ियाँ अपने विवेक से, एक नए जीवन-उत्सव में शामिल हुई हैं, तो उनकी आँखों में चमक देखी है।

उन्होंने बहुत कुछ देखा है : विभाजन पूर्व का भारत, विभाजन के बाद का भारत और यह भारत जिसमें नई पीढ़ियाँ व्यर्थ की कई

वर्जनाओं को तोड़ती हुई दिखाई पड़ी हैं... यह सब उनकी कृतियों में प्रतिबिम्बित हुआ है।

जब हम लोगों ने लिखना-पढ़ना शुरू किया सोलह-सत्रह की उम्र में, तब हम कोलकाता में थे, और सोबतीजी की एक कहानी 'बादलों के घेरे', और 'सिक्का बदल गया' पढ़कर, हम सब भाई-बहन बड़े चमत्कृत हुए थे। फिर तो जो भी उनका लिखा हुआ पढ़ने को मिलता रहा, हम पढ़ने लगे। राजकमल से प्रकाशित 'डार से बिछुड़ी' के पेपर बैक की प्रति की स्मृति मन में बसी हुई है। उसके सम्बोधनों, उसके संवादों और 'आत्मालापों ने मुझे घेर-सा लिया था। भाषा का एक नया स्वाद तो मिला ही था...

हम जो उनके पाठक थे, और हैं, उनकी हर कृति को चाव से पढ़ते रहे हैं। और यह जानकर प्रसन्न होते रहे हैं कि उनका पाठक-वर्ग बढ़ता ही गया है।

एक बार सोबतीजी से मिलने पहुँचा तो 'जिन्दगीनामा' के कोंकणी अनुवाद की प्रति देखने को मिली। गहरी प्रसन्नता हुई, लगा कि इस जैसे बड़े उपन्यास का अनुवाद करके जयंती नायक ने, जो इसकी अनुवादक हैं, कितना बड़ा काम किया है! अचरज नहीं हुआ, जब सोबतीजी से चर्चा में मालूम हुआ कि 'जिन्दगीनामा' का अनुवाद 16 भाषाओं में हो चुका है।

मैंने प्रसन्न होकर कहा, "सोचकर कितना अच्छा लगता है कि अब आपके लाखों पाठक हैं।" बातचीत हिन्दी की 'बड़ी होती गई दुनिया' की ओर भी मुड़ी...

चर्चा में हम 'अनुवादक' के लिए कोंकणी शब्द 'अणकारपी' पर भी रुके और इस शब्द-समानता पर भी कि 'जिन्दगीनामा'

जिन्दा रुख का अनुवाद जिन्दगीनामा 'जिवो रुख', कितना मिलता-जुलता है !

सोबतीजी ने कुछ उत्साहपूर्वक चमकभरी आँखों के साथ कहा, "सोचिए, कितने शब्द हैं, एक ही चीज के लिए, हमारी भाषाओं के पास।" हाँ, उन्हें शब्दों पर, चीजों के रंग-रूप पर, खाने-पीने की चीजों के स्वाद पर, पहनने-ओढ़ने वाली चीजों पर, रसभरी चर्चा करते हुए देखा-सुना है ! वे जब जब घर आई हैं, और हम जब जब उनके घर गए हैं, कितना कुछ ऐसी चर्चाओं से हमें मिला है।

जब मैं दिल्ली आया था 1964 में यहीं रहने-बसने के इशारे से, 'कल्पना' छोड़कर, तभी सोबतीजी से परिचय हो गया था। तब एक युवा लेखक के रूप में उनका स्नेह मिला था, और अब भी हम सब उनके स्नेह भाजन हैं— मैं, मेरी पत्नी ज्योति, बेटियाँ अंकिता और वर्षिता सब। चाहे उनसे लेखक-लेखक वाला सम्बन्ध हो या एक पारिवारिक सम्बन्ध, उनका एक पाठक होने के सम्बन्ध को मैं भूलता नहीं हूँ। इस 'सम्बन्ध' से एक अलग प्रकार का आनंद मिलता रहा है मुझे। और कहूँ कि मैं उनकी कृतियों में इस कारण और अच्छी तरह, सहज भाव से उतर पाता हूँ।

समय-समय पर उन पर लिखा है पर, इस बार इच्छा हुई कि मैं 'पाठक-लेखक' वाले कोण से उन पर लिखूँ। यह इच्छा कहीं अवचेतन में भी रही होगी, तभी इस लेख के दूसरे पैरे की पंक्तियाँ, पाठक वर्ग के उल्लेख से ही शुरू हुई हैं।

और भला 'हम हशमत' को भी पढ़ना किस पाठक को नहीं रुचता रहा ! 'हम हशमत', यानी कृष्णा सोबती का एक और लेखकीय व्यक्तित्व !

बेहद चुटीले, बेहद सरस और ज़रूरत पड़ने पर तीखी लेकिन विवेकपूर्ण जिरह से लैस, ये रेखाचित्र, ये संस्मरण, ये आकलन भी हिन्दी में अपनी तरह के हैं। और इनमें भी तो जिस लेखक या व्यक्ति पर उन्होंने लिखा है, मेरे सौभाग्यवश मुझ पर भी 'उसका समय' और स्वयं 'हम हशमत का समय' कितनी अच्छी तरह प्रतिबिम्बित है। दरअसल, एक पाठक के नाते, यह भी तो लगता (रहा) है कि सोबतीजी के लेखन की रेंज कितनी बड़ी है, और उसमें से हर समय, रुचि के अनुसार, इच्छा के अनुसार दोबारा-तिबारा भी कुछ चुना जा सकता है। 'ऐ लड़की !' और 'हम हशमत' को और उनकी कुछ अन्य कृतियों को दो-चार बार तो पढ़ा ही होगा, अलग-अलग 'समय' पर !

एक पाठक क्यों लौटता है, किन कारणों से किसी कृति की ओर !

उत्तर में यही तो सूझता है कि कभी वह उत्सुकतावश भी लौटता है, कि अमुक कृति 'अब' उसे कैसा और क्या स्वाद देगी ! कभी अपने पढ़ने की किसी स्मृति को ताज़ा करने के लिए लौटता है किसी कृति की ओर ! और कुल मिलाकर तो इसलिए कि वह कृति पहली बार पढ़ने पर उसे 'प्रिय' लगी थी इसलिए फिर लौटता है उस कृति की ओर, कुछ और भी पाने को ! उनकी प्रायः हर कृति के कई-कई संस्करण हुए हैं। कृतियों को पुराने कागज़ की जगह नया कागज़, नया कलेवर भी मिला है। जब भी किसी पुस्तक मेले में, पुस्तक प्रदर्शनी में, पुस्तक दुकान में उनकी पुस्तकें दिखाई पड़ी हैं, मैं यह देखना और गौर करना, सहज उत्सुकतावश, नहीं भूला कि वह किस संस्करण वाली प्रति है।

‘दूसरा जीवन-कृष्णा सोबती की जीवनी’ नाम से सोबतीजी की जीवनी आ चुकी है। यह गिरधर राठी की लिखी हुई है। पर्याप्त चर्चित हुई है। उनके जीवन में उनके लिखे हुए के अलावा भी ऐसा बहुत कुछ है, जो हमेशा लोगों को, उनके पाठकों को प्रेरित करता रहेगा। वह कहती थीं, “जीवन अद्भुत सुन्दर है, इसे जियो।” जीवन को अपने लिए, दूसरों के लिए, सुन्दर बनाने को वह हमेशा सचेष्ट रहती थीं। उनके स्वागत-सत्कार में मित्रों-परिजनों के साथ व्यवहार में, जो संवेदना-सिक्त स्नेह रहता था, वे उसे कभी भूल नहीं सकते, जिनको वह स्नेहिल स्पर्श मिला है। युवा लोगों से वह हमेशा अपने को जोड़े रखती थीं। उनकी रुचियों के बारे में जानना चाहती थीं। समय-समय पर मित्रों, आत्मीय जनों को, वह उपहार भेजती रहती थीं। स्वयं मेरी मेज़ पर जो टेबल-लैप है, वह उन्हीं की भेंट है। उनके मित्रों की संतानों को भी कोई-न-कोई भेंट मिलती रहती थी। अपनी उपस्थिति को जीवंत बनाए रखना उन्हें आता था— पहनावे से लेकर, उनके बोलने-बतियाने में, मित्रों-परिजनों को कुछ खिलाने-पिलाने में, उनकी ‘जीवंतता’ देखने लायक होती थी। मानो उनके हर कामकाज की एक विशिष्ट शैली थी। उनका ‘दूसरा जीवन’ सचमुच शुरू हो चुका है और यह देखना-जानना वास्तव में कितना सुखद है कि उनके इस दूसरे जीवन में भी बहुत कुछ ऐसा घटित हो रहा है जो अर्थपूर्ण है, गरिमापूर्ण है। उनके जीवन-लेखन पर हिन्दी-अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं में, उन पर बहुतेरी चीज़ें आ रही हैं। कुछ अरसा पहले सुकृता पाल कुमार और रेखा सेठी द्वारा सम्पादित, अंग्रेज़ी

में एक पुस्तक आई है ‘कृष्णा सोबती—ए काउंटर आर्काइव’ (Krishna Sobti-A Counter Archive) जिसमें उनकी कृतियों पर, उनकी कथा-भूमियों पर और उनके लेखन से जुड़े अन्य विषयों पर लेख हैं : अंग्रेज़ी में मूल रूप से लिखे गए, और हिन्दी से अनूदित भी।

उनके जन्मशती वर्ष पर निश्चय ही कई आयोजन होंगे। एक आयोजन हाल ही में साहित्य अकादेमी कर चुकी है। उनका, ‘दूसरा जीवन’ उनके पिछले जीवन की स्मृतियों से भरा तो होगा ही, उसमें ऐसी चीज़ें जुड़ेगी जो नई स्मृतियों की रचना करेंगी। उनकी जीवनी शक्ति, उनके लेखन की ऊर्जा, निश्चय ही उनके आत्मीय जनों को, उनके पाठकों को अनुप्राणित करती रहेगी।

जीवन को देखने की, इतिहास के पन्नों को पलटने की, उनकी तीक्ष्ण दृष्टि पीढ़ियों के काम आती रहेगी। देश-दुनिया की कई भाषाओं में उनके लेखन का पहुँचना, इसी बात को प्रमाणित करता है कि उनकी ‘जीवनी शक्ति’ और उस जीवनी शक्ति से रिक्त उनकी कृतियाँ, जब भी पढ़ी-पलटी जाएँगी, उनमें हमें कुछ ‘नया’ और ‘ताज़ा’ मिलेगा। उनकी कथा-कृतियों ने ही नहीं, उनकी ‘भाषा’ ने, उस ‘भाषा’ के तेवरों और शब्दों ने भी हिन्दी को समृद्ध किया है। उनका नाम लेते ही उनकी जो छवि उभरती है, वह एक साहसी, जीवंत और जीवन में नित नए को खोजने वाली ‘छवि’ ही तो है!

मुझे उनके लेखकीय स्वाभिमान ने भी हमेशा प्रभावित किया है और लेखकीय कर्म को उन्होंने जीवन-पर्यंत गम्भीरता से लिया।



यह बिल्कुल स्पष्ट है कि एक नारीवादी लेखिका के भीतर ऐसे अनुभव धड़कते रहते हैं चाहे वह लेखिका अपनी नारीवादी स्थिति को स्वीकार करे या न करे। अपने अनेक साक्षात्कारों में कृष्णा सोबती ने इन मुद्दों पर अपने अनुभव व्यक्त किए हैं। उन्होंने कहा है कि उन्हें ऐसी लेखिका कहा जाना पसन्द है जो स्त्रियों की वैयक्तिकता का ध्यान रखती है क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य ही हैं। संक्षेप में कहें, तो ये ऐसे मुद्दे हैं जो यहाँ दाँव पर लगे हुए हैं। जिस पितृसत्ता के भीतर हम निवास करते हैं, उसमें व्यक्ति कौन है? अपनी वैयक्तिकता और अपनी मानवता को हासिल करने के किसी स्त्री के मानववादी सार्वभौमिक स्वप्न से शुरुआत करना एक असम्भव कल्पना है।



सविता सिंह

ई-मेल : savita.singh6@gmail.com

नियमों और अतिक्रमणों के बीच

स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखने की प्रक्रिया अनिवार्यतः पितृसत्ता के साथ सम्बद्ध रही है। लिखने की यह प्रक्रिया प्रतीकात्मक व्यवस्था को जेंडरीकृत करने की भाषा-विज्ञान सम्बन्धी ऐसी आकांक्षा है, जो पुरुषवाचक नहीं है। अपने लेखन में कृष्णा सोबती इस चुनौती को स्वीकार करती हैं और इस प्रक्रिया में वे दोनों तरीकों की खोज करती हैं : उनके कथा-साहित्य के नारी पात्र भी नारीवादी होते हैं और वे स्वयं भी एक नारीवादी लेखिका हो जाती हैं। स्वायत्त मनुष्यों के प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए यहाँ जिस तरीके की आत्मनिष्ठताओं को एकत्रित किया गया है, वे अभिव्यक्तिमूलक और अनेकात्मक हैं तथा अपनी अभिव्यक्तियों में बहुत प्रचुर हैं। पाठक को यह पता नहीं होता कि कृष्णा सोबती की कहानियाँ उसे स्थानिक या सांसारिक रूप से कहीं ले जा रही होती हैं। इन्हें पढ़ते समय पाठकों को संवादों और वार्तालापों की कठिन स्थितियों और झटकों से गुजरना होता है। ये कठिन स्थिति ऐसी होती है जहाँ कर्ता की रचना करने के लिए देह की आकांक्षाएँ और स्व की अत्यावश्यकता एक साथ जुड़ जाती हैं। जहाँ तक कृष्णा सोबती के समय में विद्यमान साहित्यिक क्षेत्र का सम्बन्ध है, उनका साहित्य पाठ के स्तर पर एक उपलब्धि है जो ग़ैर-परजीवी तरीके से यथार्थ की शक्ति में हमारे सामने आता है। यहाँ उन विद्यमान साहित्यिक नियमों का अनुसरण नहीं किया गया था। जिनके अंतर्गत अर्थ यानी तात्पर्य का उत्पादन युग्मक विरुद्धों के तर्क पर और खाँचाबद्ध तात्पर्यों के रूप में इन विरुद्धों की संरचना पर निर्भर हुआ करता था।

उन्होंने प्रतीकात्मक व्यवस्था के भीतर और बाहर दोनों जगह कार्य किया है, इसलिए उनका लेखन इतना अलग है कि उस लेखन का पुनर्पाठ करने की आवश्यकता है ताकि यह चिह्नित किया जा सके कि वे किसी मित्रो, किसी पाशो, किसी रति या किसी लड़की या यहाँ तक कि 'ऐ लड़की' की किसी अम्मू के आमने-सामने खुद किस तरह खड़ी होती हैं।

जैसाकि कृष्णा सोबती ने लिखा है कि उन्होंने दोहरे आंदोलन का अनुसरण किया है : भारतीय पितृसत्ता और इसको सौन्दर्य शास्त्रीय जगत के बाहर भी और इसके भीतर भी, जहाँ सुन्दरता स्वतन्त्रता की सीमाएँ तय कर दिया करती है। एक लेखक के रूप में कृष्णा सोबती स्वयं को प्रतीकात्मक व्यवस्था की दरारों के बीच रखती हैं, जहाँ एक नए स्व को पैदा करने के लिए, इच्छा करने वाले और बोलने वाले एक कर्ता को उत्पन्न करने के लिए भाषा गुप्त संकेत करती रहती है। जिस

तरह अपने उपन्यासों और कहानियों में नारी पात्रों की रचना उन्होंने की है, उसे ध्यान में रखते हुए क्या इस बात को दृढ़तापूर्वक यहाँ कहा जा सकता है कि एक लेखक के रूप में कृष्णा सोबती अपने लेखन के माध्यम से खुद को निर्मित कर रही होती हैं? क्या मित्रो जैसी किसी नारी पात्र की यौन इच्छाओं में और कृष्णा सोबती के लेखकीय स्व की इच्छाओं में किसी प्रकार का कोई साम्य है? चाहे जो भी कहा जाए, लेकिन एक कत्री

यहाँ पुरुषवाचक तार्किकता के कारण अपनी उतनी उपस्थिति नहीं दर्ज कराती, जितनी उपस्थिति वह अपनी देह की इच्छाओं के कारण कराती है। वह स्त्री एक साकार मानव है। इसलिए ऐसा लेखन किसी स्त्री को ही लिखने जैसा है। एक नारीवादी लेखिका को यह पता होता है कि लेखन के माध्यम से खुद को कैसे उत्पन्न करना है। क्या हम यहाँ यह कह सकते हैं कि 'मित्रों मरजानी' को लिखना कृष्णा सोबती द्वारा एक स्त्री को लिखने जैसा काम है। और इस मामले में कृष्णा अपने समय के अन्य पुरुष लेखकों



कृष्णा सोबती

से बिल्कुल अलग हैं। अपने पूर्ववर्ती पुरुष लेखकों से भी और अपने परवर्ती पुरुष लेखकों से भी। क्या हम यहाँ कह सकते हैं कि वे 'भिन्नता' की एक उत्पाद हैं और अपनी दुनिया में वे अलग तरीके से खड़ी होती हैं, कि वे किसी स्त्री की तरह इच्छाएँ रखती हैं और हेलेन सिक्सस की तरह ही एक स्त्री की दुनिया से जुड़े

वैभव का दावा करने के लिए लेखन करती हैं!

ल्यूस इरिगरे की तरह उन्हें प्रतीकात्मक व्यवस्था में घुटन होती है क्योंकि अपने नियम-क्रायदों, संस्कृति और कार्य-व्यापार के कारण यह प्रतीकात्मक व्यवस्था स्वतन्त्रता और आत्मानुभूति की उनकी चाहतों के साथ अपना समायोजन नहीं कर पाती। यद्यपि कृष्णा सोबती इन लोगों की तरह स्पष्ट तौर पर चीजों को सैद्धांतिक नहीं

करतीं, फिर भी उनकी लालसा एक अलग प्रतीकात्मक व्यवस्था में रहने की हुआ करती थी, एक ऐसी प्रतीकात्मक व्यवस्था में जहाँ एक औरत के बारे में लिखते समय भाषा पुरुषवाचक महत्वाकांक्षाओं को सशक्त न बनाती हो और औरत को महज इस स्थिति में न छोड़ देती हो कि यह तो सिर्फ व्याकरण का प्रभावमात्र है। वे पुरुषवाचक भाषा के दायरे में किसी जगह की आशा करते हुए नहीं लिखतीं, क्योंकि पुरुषवाचक भाषा स्त्री की इच्छा को अभिव्यक्त नहीं कर सकती। इसका कारण यह है कि यह भाषा स्त्री की इच्छा के नकार पर और इसके दमन पर ही आधारित होती है। ऐसा करके क्या वे इस भाषा की मानकीय संरचनाओं को चिढ़ाती नहीं! क्या ये अतिक्रमण करके उस कल्पनालोक में नहीं जातीं, जो खुला हुआ और विस्तृत है- एक ऐसा कल्पनालोक जो उन इच्छाओं के साथ क्रदमताल करता है, जिन्हें अधिकाधिक लिखे जाने की अभिलाषा है।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि एक नारीवादी लेखिका के भीतर ऐसे अनुभव धड़कते रहते हैं चाहे वह लेखिका अपनी नारीवादी स्थिति को स्वीकार करे या न करे। अपने अनेक साक्षात्कारों में कृष्णा सोबती ने इन मुद्दों पर अपने अनुभव व्यक्त किए हैं। उन्होंने कहा है कि उन्हें ऐसी लेखिका कहा जाना पसन्द है जो स्त्रियों की वैयक्तिकता का ध्यान रखती है क्योंकि स्त्रियाँ भी मनुष्य ही हैं। संक्षेप में कहें, तो ये ऐसे मुद्दे हैं जो यहाँ दौब पर लगे हुए हैं। जिस पितृसत्ता के भीतर हम निवास करते हैं, उसमें व्यक्ति कौन है? अपनी वैयक्तिकता और अपनी मानवता को

हासिल करने के किसी स्त्री के मानववादी सार्वभौमिक स्वप्न से शुरुआत करना एक असम्भव कल्पना है। प्रतीकात्मक व्यवस्था का व्याकरण ही कुछ इस तरह रचा गया है कि वह किसी स्त्री को अनिवार्यतः अनुत्तीर्ण ही करता है। कोई स्त्री न तो इस प्रतीकात्मक व्यवस्था के नियमों और यौनिकता के अचेतन गठजोड़ तक पहुँच पाती है और न ही वह खुद अपने ही स्त्रियोचित वैभव और उसके इलाके का संधान कर पाती है। पितृसत्ता की प्रतीकात्मक व्यवस्था में कोई स्त्री एक निर्मिति होती है। एक छाया किसी ठोस और कठोर पुरुषवाचक चीज का प्रभाव मात्र हम यहीं पर वापस जाकर पुनः अपनी बात कहते हैं, जहाँ से हमने शुरू किया था, यानी सिमोन द बोउवा से, जो कहती हैं कि, “स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।” कृष्णा सोबती को पढ़ते हुए लगता है कि सिमोन का यह वाक्य अधूरा है क्योंकि इसमें जोड़कर इसे कुछ इस तरह बनाया जाना चाहिए कि, “स्त्री पैदा नहीं होती, वह तो पितृसत्ता द्वारा रची जाती है, पितृसत्ता द्वारा बनाई जाती है।”

कृष्णा सोबती को बहुत पढ़ा गया है और उनके लेखन के अनेक पाठ किए गए हैं। उनकी पात्र मित्रों ने बहुत सारे कारणों के चलते बाकायदा आलोचकों और व्याख्याकारों का ध्यान आकृष्ट किया है। निश्चय ही इसके पीछे पितृसत्ता और इसके मानकों पर बारम्बार जोर देने की वजह एक कारण के रूप में शामिल रही है। कुछ प्रगतिशील पुरुष लेखक और आलोचक भी इस बात की थाह नहीं ले सके हैं कि कृष्णा सोबती द्वारा मित्रों जैसे पात्र को रचने का क्या कारण है! हालाँकि, उन्हें इसका एक

कारण मिल ही गया। पश्चिमी आधुनिकता द्वारा लाए गए व्यक्तिवाद का असर भारतीय समाज और इसकी प्रणालियों पर भलीभाँति पड़ा। ब्रिटिश उपनिवेशवाद से संघर्ष के दौर में आधुनिक भारत में पितृसत्ता की जिस तरीके से रचना की गई और पितृसत्ता को जिस प्रकार मजबूत बनाकर उसे खड़ा किया गया, उसने अंततः स्त्रियों समेत समस्त लोगों से इस बात का अनुमोदन हासिल कर लिया कि जीवन और स्वतन्त्रता का संवैधानिक अधिकार स्त्रियों को वादे के अनुरूप मिलेगा। उपनिवेशवाद के दौर में और उसके पहले भी भारतीय परिवार की जो पितृसत्तायुक्त संयुक्त संरचना थी, वह अब नाभिकीय या एकल परिवारों में तब्दील हुई तथा व्यक्तिगत अधिकार और व्यक्तियों की समानता इस नवीन व्यवस्था के आधार बने। इसलिए अपनी देह की इच्छाओं पर जोर देकर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की माँग करने वाली मित्रों की ज़रूरतें परिवार की संरचना के भीतर कितनी पूरी हो पाती हैं, इस विषय पर जब हम गौर करते हैं तो लगता है कि यह ज़बर्दस्ती किया जाने वाला काम है और इसी कारण मित्रों जैसे पात्र को लोग अविश्वसनीय मान बैठते हैं।

‘मित्रो मरजानी’ पर आलोचकीय प्रतिक्रिया का उल्लेख करते हुए शुभ्रा नागिया कुछ प्रगतिशील पुरुष लेखकों और आलोचकों के दृष्टिकोणों को सामने लाती हैं। उदाहरण के लिए, हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा से आने वाले एक उम्दा लेखक और आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी ने मित्रों का मूल्यांकन एक ऐसे पाठ के रूप

में किया है जहाँ अंततः कृष्णा सोबती को पारिवारिक मूल्यों को बहाल करते हुए ही पाया है। विश्वनाथ त्रिपाठी को उद्धृत करते हुए नागिया लिखती हैं, “मित्रों ने यह निष्कर्ष शारीरिकता को त्यागकर नहीं, उसे ठीक जगह समर्पित कर, उसे ठिकाने लगाकर प्राप्त किया। शारीरिकता अगर ठिकाने लग जाए, तो सार्थक हो जाए।” इसके बाद त्रिपाठीजी को आगे उद्धृत करती हुई वे लिखती हैं, “ऐसा करके देखने पर पूरी कहानी मित्रों की इस खोज के बारे में हो जाती है कि आनंद को चरम सीमा तक ले जाने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति या स्थान कौन-सा है। ...आलोचक मित्रों को कहानी के एक पात्र के रूप में नहीं देखते, बल्कि उसे एक सामाजिक तथ्य के रूप में देखने लगते हैं। इसके अलावा आलोचक कृष्णा सोबती की उस दायित्वपरक रचनाशीलता की प्रशंसा भी करते हैं कि किस तरह उन्होंने इस तथ्य को एक सच्चाई में बदल दिया है, एक ऐसी सच्चाई में, जो नैतिक रूप से पूर्णतः दोषरहित है। विश्वनाथ त्रिपाठी इस बात की तरफ़ संकेत करते हैं कि मित्रों की कहानी सम्बन्धों में उस सार्थकता को तलाशने की कहानी है, जिसे मित्रों प्रेम कर सके, जिसे मित्रों महत्वपूर्ण मान सके। महज देह होने से लेकर एका सामाजिक मानव होने तक मित्रों ने एक ऐतिहासिक यात्रा तय की है। ऐसा करने में मित्रों परिवार को पुनःस्थापित तो करती है, लेकिन जिस परिवार को वह पुनः स्थापित करती है वह रूपांतरित अवस्था का एक परिवार है। यह मित्रों के जंजीर बँधे एक रैखिक प्रगतियुक्त चरित्र की गतिशीलता है,

उसका रूपांतरण है और उसका विकास है। इसके अलावा यह चरित्र परिवार की संस्था और परिवार के मूल्यों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए समर्पित है।”

कृष्णा सोबती के बारे में स्त्री आलोचकों की भी यही राय रही है कि वे मानववादी सार्वभौमिकतावादी पुरुषवाचक प्रोजेक्ट और इस तरीके के स्वप्नों से परे नहीं जा पातीं। नागिया लिखती हैं, “कृष्णा सोबती को नारीवाद की जो समझ है, यह उनके व्यापकतर मानववादी सरोकारों से संचालित होती है। शायद यही कारण है कि वे स्वयं पर और अपने लेखन पर नारीवाद का ठप्पा लगाना पसन्द नहीं करतीं। कृष्णा सोबती स्त्री और पुरुष के बीच एक ऐसे सन्तुलन पर जोर देती हुई प्रतीत होती हैं, जहाँ दोनों ही एक दूसरे की अन्यता को, ‘अदरनेस’ को न सिर्फ समझते हैं, बल्कि एक-दूसरे की ‘अदरनेस’ का आदर भी करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि वरिष्ठ हिन्दी आलोचक पितृसत्तात्मक समाज के पुरुषवाची मानसिकता के साथ ही आते हैं, जबकि कृष्णा सोबती बहुत गहरे उतरकर उस अवस्था की खोज में तल्लीन हैं जहाँ स्त्री और पुरुष एक-दूसरे से सचमुच बराबरी के स्तर पर मिल-जुल सकते हैं।... कृष्णा सोबती का विश्वास है कि स्त्री और पुरुष अनिवार्य रूप से एक जैसे ही हैं, और अगर उनमें कोई भिन्नता है भी, तो वह जीव-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही है।”

कृष्णा सोबती नहीं चाहतीं कि उनके लेखन को नारीवाद जैसे किसी संकीर्ण खाँचे के अंतर्गत रखकर देखा जाए। यद्यपि यह बात सही है कि कृष्णा सोबती को हममें से

बहुत लोगों ने एक ऐसी लेखिका के रूप में देखा है जो परिवार को पुनःस्थापित करती हैं, जो अपने उपन्यासों में पुरुष और स्त्री पात्रों के माध्यम से पुरुषों और स्त्रियों की जेंडरीकृत भूमिकाओं को पुनःस्थापित करती हैं, भले ही ऐसा करते समय वे भारतीय पितृसत्ता के मूल्यों में थोड़े-बहुत पुनर्समायोजन करने के लिए व्याकुल रहती हैं। इसके अतिरिक्त यद्यपि यह बात सत्य है कि अपने साक्षात्कारों में कृष्णा सोबती ने इस बात का उल्लेख किया है कि स्त्री और पुरुष में कोई फ़र्क नहीं होता और दोनों ही अपनी-अपनी वैयक्तिकता के साथ पहचाने जाने का समान अधिकार और इच्छाएँ रखते हैं, तब भी एक नया सवाल यह खड़ा होता है कि व्यक्ति यानी इण्डिविजुअल है कौन? कौन एक कर्ता है और किसी कर्ता के अभिलक्षण क्या हैं? इसका अन्वेषण करने पर किसी को भी इस बात का अनुभव हो सकता है कि कृष्णा सोबती का पाठ एक अलग तरीके से करने की आवश्यकता है ताकि ‘डार से बिछुड़ी हुई’, ‘मित्रो मरजानी’ और ‘ऐ लड़की’ के सही तात्पर्यों को समझा जा सके।

इस पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि प्रारम्भिक नारीवादियों के बाद परवर्ती नारीवादियों ने यह जानने की कैसी कोशिशें की हैं कि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति-अवस्थिति और दशा क्या है! मनोविश्लेषणवादी लाकाँ ने फ़्रायड का पुनर्पाठ करते हुए यह समझने का प्रयास किया कि जगत में कोई व्यक्ति किस तरह अवस्थित है। उन्होंने अन्य चीजों के साथ-साथ यह भी पाया कि भाषा और लैंगिकता में

किस तरह का छलपूर्ण सम्बन्ध है, और यह सम्बन्ध हमें वस्तुनिष्ठ रूप से प्रदान की गई चीजों— जगत को रचने वाली संकल्पनाओं और श्रेणियों की तुलना में बहुत सूक्ष्म है, अत्यधिक महीन है। पितृसत्ता में एक कर्ता की रचना किस प्रकार होती है, इसे समझने का एक अधिक स्पष्ट दृष्टिकोण हमें लाकाँ के साथ-साथ इरिगरे, जूलिया क्रिस्टीवा और हेलेन सिक्सुस जैसी फ्राँसीसी नारीवादियों के लेखन में मिलता है। यह दृष्टिकोण कृष्णा सोबती की उस कोशिश को समझने में सहायता कर सकता है जिसके जरिए वे किसी कर्त्री को परिभाषित करती हैं। उनके द्वारा परिभाषित कर्त्री जितना देह की आकांक्षाओं के जरिए पहचानी जाती है, उतना मस्तिष्क की तार्किकता के कारण नहीं।

मैं निरंतर यह तर्क देती रही हूँ कि कृष्णा सोबती की कृति 'मित्रो मरजानी' में कर्त्री का आगमन मित्रो द्वारा अपनी कामुक संरचना की घोषणा के माध्यम से होता है। यह संरचना ध्यानाकर्षक इसलिए है क्योंकि यह मित्रो की देह की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति है, एक ऐसी देह की आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति जिसकी अपनी इच्छाएँ होती हैं। इसका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य के परिदृश्य पर एक नारीवादी लेखिका के रूप में कृष्णा सोबती के आगमन से है, वे एक ऐसी स्त्री के स्व के रूप में सामने आती हैं जो इस स्त्री-देह को लिख रही होती है। आज के स्त्रीवादी दौर में कृष्णा सोबती को समझने के लिए स्त्रीवाद की उन्नत प्रतीकात्मक व्यवस्था वाले सिद्धांत को सक्रिय करने की आवश्यकता है। यह सिद्धांत या पद्धति

भाषा में प्रयुक्त व्याकरणिक दमन से सम्बन्ध रखती है।

स्त्रियाँ उस भाषा के माध्यम से अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं जो उन पर थोप दी जाती है। तब जब वे प्रतीकात्मक व्यवस्था में दाखिल होती हैं। इसके लिए किसी स्त्री को दोहरे आंदोलन के एक ऐसे रणनीतिक दाँव का सहारा लेना पड़ेगा, जिसमें तीव्र आलोचना और सृजन का अद्भुत संयोग होता हो। एक नई कर्त्री का चित्रण करते समय उसे विमर्श के पुरुषवाची चरित्र को उद्घाटित करना ही होगा। कृष्णा सोबती की जो लेखकीय क्षमता है। उसमें अगर कोई व्यक्ति उसे देखे तो उस व्यक्ति को ऐसी तमाम महत्वपूर्ण चीजें मिलेंगी, जिन पर नारीवादी दृष्टिकोण से विचार किया जाना अभी बाकी ही है। नागिया के शब्दों में, “यद्यपि कृष्णा सोबती को यह पसन्द नहीं है कि उन्हें एक ‘नारीवादी’ कहकर सम्बोधित किया जाए, फिर भी उन्होंने एक सौ छह बेहद बोल्ट और मज़बूत नारी पात्रों के माध्यम से स्त्रियों के हितों के सन्दर्भ में उल्लेखनीय योगदान दिया है। वे नारियों के भीतर उतरी हैं। उनके सपनों के भीतर लेखिका ने गोते लगाए हैं, उनकी इच्छाओं को लेखिका ने पहचाना है, उनके द्वंद्वों पर लेखिका ने विचार किया है, उनकी इच्छाओं और कामनाओं का लेखिका ने ध्यान रखा है।” और यह तब, जब वे कर रही हैं कि नारीवाद किसी संकीर्णता का नाम है।

यह उल्लेखनीय है कि कृष्णा सोबती इसके बावजूद स्त्री देह के संसाधनों पर जोर देती हैं। तमाम धमकियों और खतरों

के बावजूद ये संसाधन अपने अस्तित्व को कायम रखते हैं। इनके यहाँ स्त्री देह को घेरने वाली हिंसक परिस्थितियाँ उस स्त्री देह को पराजित नहीं कर पातीं। यह अपराजेय रहती है। इससे भविष्य की एक वैकल्पिक नारीवादी भाषा की आशा जगती है। 'डार से बिछुड़ी हुई' कृति सन् 1958 में आई। यह उपन्यास था बल्कि एक लघु उपन्यास था। इसमें उन्होंने जिस शिल्प का प्रयोग किया है, वह दो चीजों के बीच कहीं स्थित है। ये दो चीजें हैं— पुरुषवाची यौनिक आक्रामकता का स्थूल तर्क और एक ऐसी सूक्ष्म कहानी, जिसमें स्त्री यौनिकता की शक्ति को समाहित नहीं किया जा सकता। यह एक छोटी लड़की की कहानी है जो अपने परिवार की सुरक्षा से हाथ धो बैठती है। उस लड़की की माँ एक ऐसे पुरुष के साथ उसी गाँव में रहने लगती है, जिसे वह प्यार करती थी। इससे मानक टूटते हैं। यह थोड़ा-सा असहज लगता है, लेकिन पंजाब के ग्रामीण अंचलों की शक्ति संरचना के यथार्थ पर गौर करने पर इसमें कथात्मक प्रामाणिकता का तत्त्व आ जाता है। वह स्त्री अपने पीछे एक छोटी बच्ची पाशो को छोड़ जाती है, जो बला की खूबसूरत है। पूरी कहानी पाशों की भौतिक घर-विहीनता के बारे में है। पाशों के पास अब भी अपनी नानी का एक परिवार मौजूद है, वहाँ मामा-मामी जैसे अन्य रिश्ते भी मौजूद हैं, किन्तु उसके पास कोई घर नहीं है जहाँ पर उसकी देह दंड, यातना और दुर्व्यवहार से सुरक्षित रह सके। उसके बारे में यह मान लिया जाता है कि वह वही करेगी जो उसकी माँ ने किया था। किसी मामूली बचकानी ग़लती के लिए

भी उसे भयंकर सज़ा दी जाती है, ऐसी सज़ा जो उसकी ग़लती के अनुपात में क़तई सही नहीं होती। वह पैदाइशी तौर पर ऐसी है कि उसे लकीर का फ़कीर बने रहना पसन्द नहीं है।

वह पितृसत्ता के लिहाज़ से एक संदिग्ध पात्र है, वह एक अतिक्रमणकारी है। उसे अपने विद्यालय में एक मुसलमान लड़के द्वारा एक उपहार स्वीकार करते हुए पाया जाता है। इसके लिए परिवार में उसे दंड दिया जाता है, उसे एकांत में रखा जाता है, उसे भोजन नहीं दिया जाता है तमाम ऐसी चीज़ें इसी क्रम में आती हैं। उसे यंत्रणा के इस चौंकर को पीछे छोड़ते हुए अपने वजूद को कायम रखना है। उसे अपनी सुन्दर देह को ही अपना घर बनाना ठीक लगता है। आत्मा के घर के रूप में देह नहीं, स्त्री सौन्दर्य के वैभव से सम्पन्न देह का घर। वह अपनी माँ के पास उस हवेली में जाती है, जहाँ उसकी माँ अपने दूसरे पति के साथ रह रही होती है। यह दूसरा पति एक अलग समुदाय से आता है, लेकिन वह समृद्ध और धनवान है, वह एक दीवान है। उसकी माँ उसके लिए पत्थर हो चुकी होती है। आखिर वह भी इतना सब करने-धरने के बावजूद एक पितृसत्तात्मक संरचना के भीतर ही रह रही होती है। जो विवाह उसने किया वह प्रेम विवाह ही है, न कि ऐसा, जिसे घर-परिवार वालों ने तय किया हो, फिर भी नए पति के घर-परिवार में पुराने पति से पैदा हुए बच्चों को जगह दिलाना कठिन है। पाशो को अपनी माँ से वह प्रेम नहीं मिलता जो एक माँ से किसी बच्ची को मिलना चाहिए। पाशो उदास

हो जाती है। वह अपनी माँ के घर लम्बे समय तक नहीं रह सकती, वह लगातार शान्त रहने की कोशिश करती है।

दीवान साहब उसके प्रति कुछ वात्सल्य भी दिखाते हैं और वह उतने वात्सल्य में ही बहुत खुश हो जाया करती है। दीवान साहब अपने एक दोस्त के साथ पाशो का विवाह तय करते हैं जो, जाहिर है कि, उम्र में पाशो से बहुत बड़ा है। पति की मृत्यु के बाद पाशों को घर से बाहर कर दिया जाता है और उसकी माँ तो स्पष्ट शब्दों में उससे कभी भी वहाँ न लौटने के लिए कहती भी है। अपने अंधेरे की मौजूदगी से जूझती पाशो को इस विवाह से भौतिक रूप से एक मकान मिल जाता है। वह इसके लिए आभारी-सी भी महसूस करती है और अपने पति की सेवा-सुश्रूषा भी करती है, लेकिन जैसाकि होना ही था, पति के देहांत के बाद पति के रिश्तेदार गिद्धों के बीच वह घिर जाती है। वह अपने पति के एक रिश्तेदार के साथ रखैल की तरह रहने लगती है, वह रिश्तेदार उसके पति की सम्पत्ति हासिल करने के लिए अंततः उसे किसी दूसरे पुरुष के हाथों बेच देता है। पाशो अंततः सेना की बैरक में रहने वाले फ्रिंगियों से अपनी रक्षा करते हुए एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती रहती है।

पाशो इन सभी कठिन परीक्षाओं से गुजरती है। कुछ इस तरह कि मानो वह दक्षिण एशियाई पितृसत्ता से और खासकर भारतीय पितृसत्ता से पाठकों को परिचित करा रही हो। और स्त्रियाँ इस संरचना में जीने के लिए अभिशप्त हैं। यह आधुनिक संरचना उपनिवेशवाद पर विजय के उपरांत आई है

और यह स्वतन्त्रता और गरिमा के राष्ट्रीय सिद्धांतों पर आधारित है। हालाँकि कृष्णा सोबती के पास एक दूसरा उप-पाठ भी है। यह उप-पाठ एक छिपे हुए संदेश की तरह है कि राष्ट्र खुद को किसी स्त्री के लिए एक घर की तरह संगठित नहीं करता, न ही यह एक स्त्री का घर होता है, चाहे जितनी ही नई नींवों पर राष्ट्र को क्यों न बनाया गया हो! यहाँ तो सिर्फ पितृसत्ता होती है, फ़र्क यह है कि पितृसत्ता का यह नवीन संस्करण हो सकता है। जो चीज़ औरत को बचाती है, वह उसकी अपनी काल्पनिकता है, उसकी अपनी आशा है जो उसे अपनी ही इच्छाओं और अपनी ही देह से मुक्त करती है। इस यंत्रणापूर्ण यात्रा के दौरान, पाशो कभी भी पराजित नहीं दिखती, यह उठती है और फिर चल पड़ती है। वह आत्महत्या या मृत्यु का चुनाव नहीं करती। वह एक प्रसन्नचित्त आत्मा है जो अपने नैसर्गिक सौन्दर्य का आनंद ले रही होती है, अपने होने का आनंद...

यह पात्र पाठकों को जो दर्शाती है, वह शॉपेनहॉवर के शब्दों में 'जीने की इच्छा' है और जीने की यह इच्छा कृष्णा सोबती के पात्रों का एक विशिष्ट लक्षण है। यह ऐसी इच्छा है जो पाशो के भीतर गहराई तक व्याप्त है और उसके व्यक्तित्व को जीवंतता प्रदान करती है। तमाम मुसीबतों के बावजूद वह कभी आत्महत्या करने के बारे में नहीं सोचती, वह कभी अधीर नहीं होती। असल में वह लड़की खुद अपने ही शारीरिक स्व से प्रेम में रत है। उसे अपने शारीरिक सौन्दर्य पर आत्मगर्व भी होता है। अपने अंगों के सुन्दर गठन पर और अपने गोरे रंग पर

आत्मगर्व। यह शारीरिक सौन्दर्य उसके भीतर एक तरीके के अभिमान का संचार करता है, जबकि वह बाहर से डरपोक जैसी दिखती है। यह आंतरिक साहस उसे पितृसत्ता से नहीं मिलता, यह उसकी अपनी निधि है, स्वअर्जित।

कृष्णा सोबती एक जगह पाशो के बारे में लिखती हैं, “भरे उठान अकड़कर, आँखों से रंगीन डोरे बिखेरते राह पर से चली जाती। ठहरने को न कपड़ा ठहरता, न नज़र! और बाँहें प्यासी गलबहियों-सी हर अंगड़ाई के संग उठतीं, खिलतीं और अपने में सिमट जातीं। शाह आलमी से जब तिल्लेवाली नोकदार जूती पहने, फुम्मनियों वाला लम्बा पराँदा डुलाते निकलती तो आवाज़ें सुन-सुन मुस्कुराती! माँ क्या मुझसे कम रहीं होंगी! खोजों के घर पटरानी बनकर बैठ जाने वाली नानी की बेटी कैसी लगती होगी! बार-बार सोचती और सोचकर और भी इठलाती। चाहती, किसी दिन चुपके से खोजों की हवेली जाऊँ और किसी झरोखे से अपनी माँ कहलाने वाली की एक झलक पाऊँ! पर अपने छोटे-बड़े मामू के कठोर चेहरे याद कर पाँव ठिठक जाते। बहाने-बहाने शाह आलमी तक निकल जाती और कुम्हारों के घर तक हो वापस लौट आती।”

यद्यपि पाशी की नानी और उसकी मामियाँ वगैरह उसके आकर्षक शरीर को कोसती रहती थीं, फिर भी उसको अपनी देह की सुन्दरता पर गुमान बना ही रहा। वह दीवार के एक छोटे-से दर्पण में देखती है और पाती है कि उसके दाँतों की उजली चमचमाहट दर्पण से वापस आकर खुद

उसके चेहरे पर टिकती है। यहाँ तक कि जब उसके मामू उसे बुरी तरह पीटते हैं और एक तहखाने में बंद कर देते हैं, तब भी वह दरवाज़ा खुलने की प्रतीक्षा इसलिए नहीं करती कि उसे आज़ादी चाहिए, बल्कि उसे तो दरवाज़ा खुलने का इंतज़ार इसलिए रहता है कि कब दरवाज़ा खुले और वह दीवार के जादुई दर्पण में खुद को निहार सके। असल में दीवार का यह जादुई दर्पण एक रूपक है जिसके ज़रिए एक स्त्री-देह को उसकी सुन्दरता का आश्वासन मिलता है। यह रूपक देह की क्षमता को बताता है कि देह भविष्य में कभी जीना चाहती है, और वह भविष्य अगर बिल्कुल निकट नहीं है तो बहुत दूर भी नहीं है। वर्तमान में इसके लिए तो सिर्फ़ मारक हिंसा ही व्याप्त है।

एक आलोचक ने ठीक लिखा है, “कोई आसानी से पाशो को एक सनकी लड़की कह सकता है और इस प्रकार उसकी वैयक्तिकता की उपेक्षा कर सकता है क्योंकि बार-बार उसे किसी वस्तु की तरह बेचा और ख़रीदा जाता है, उससे वैसा व्यवहार किया जाता है जैसे कोई प्यानो बजाते समय करता हो, उससे नौकरानियों जैसा सुलूक किया जाता है और यह प्रतिरोध नहीं कर पाती। हालाँकि उसके व्यक्तित्व का एक और पहलू भी है उसका आत्मप्रेम। यह आत्मप्रेम उसकी कमज़ोरी बनने की बजाए उसकी ताक़त, उसकी पूँजी बन जाता है। इसके दम पर वह भाग्य के अनेक उतारों-चढ़ावों और कठिनाइयों से निबटती है। ख़तरनाक और गम्भीर बाधाओं के बावजूद जीने की यह इच्छा उसकी विशेष क्षमता बन जाती है।”

कृष्णा सोबती का दूसरा उपन्यास 'मित्रो मरजानी' बीसवीं सदी के साठ के दशक के मध्य में आया। इसने आलोचकों का ध्यान खींचा और इसमें कुछ ऐसे नवीन तत्त्व देखे गए जो अतिक्रमणमूलक थे। सबसे पहले यह उपन्यास एक लम्बी कहानी की शक्ल में सन् 1963 में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास ने पाठकों और आलोचकों को एक ऐसी अवस्था में ला खड़ा किया, जहाँ वे इस उपन्यास की रचना-पद्धति और इसकी शैली का अंदाजा नहीं लगा पाए। इसमें भी पाशो की ही तरह के उतार-चढ़ाव थे। सुविधाजनक तरीके से इसे एक लघु उपन्यास या उपन्यासिका के खाँचे में रखा गया। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि पिछली सदी में पचास के दशक तक हिन्दी के अनेक प्रमुख उपन्यास लिखे जा चुके थे, जिनमें आधुनिक भारतीय पितृसत्ता के स्त्री-पात्रों को रचने की गम्भीर कोशिशें की गई थीं। प्रेमचन्द का 'सेवासदन' और 'गोदान', जैनेन्द्र का 'सुनीता' और 'त्यागपत्र', यशपाल का 'दिव्या' और अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी'। इलाचन्द्र जोशी और फणीश्वरनाथ रेणु का भी लेखन तब तक सामने आ चुका था। हिन्दी कहानी की दुनिया में 'नई कहानी' का दौर आ चुका था। इन सारे उपन्यासों के अधिकांश स्त्री पात्रों में हमें आधुनिकता के संकेत मिलते हैं। ये उपन्यास आधुनिक स्वतन्त्रता के इलाके की नई ज़मीनें तोड़ें, इससे पहले ही यह पुरुषवाचक (मर्दवादी) जिज्ञासा जागृत हो गई कि इन स्त्री पात्रों की भीतरी दुनिया को जाना जाए। उन्हें डर लगने लगा कि कहीं

स्त्रियों का पतन न हो जाए, कहीं उनमें इतने बदलाव न आ जाएँ कि उनके साथ तालमेल बैठाना ही मुश्किल हो जाए।

अब आधुनिक पुरुषवाचक यानी मैस्कुलिन सेल्फ के लिए एक ऐसी स्त्री की ज़रूरत थी जो उसे समझे और भारतीय पितृसत्ता की इस नई यात्रा में एक जूनियर पार्टनर की तरह उसके साथ रहे। ऐसे कथात्मक वास्तविक जगत को उत्पन्न करने के लिए पुरुषवादी आकांक्षाओं और आशंकाओं पर आधारित जिस शैली को अपनाया गया, उसके लिए तात्त्विक समझ व ठोस विचारों की आवश्यकता थी और इसलिए वृहद उपन्यासों को मथने की आवश्यकता पड़ी। कृष्णा सोबती इसी तरीके के निर्माणस्थल पर अपनी वैचारिक निर्मित्र के साथ अंदर जाती हैं, वे अपनी एक खास विधा के साथ आती हैं, जो अपनी संरचना में इतनी छोटी नहीं होती कि हम उसे एक कहानी कह दें। यह उल्लेखनीय है कि नई कहानी आंदोलन के कारण साहित्यिक लेखन में 'कहानी' अपने जादुई रूप को तुरन्त बाद अस्त्रियार ही करने वाली थी (नई कहानी आंदोलन में पुरुष लेखकों की रुचि का प्रधान विषय अंश यही रहा कि वे स्त्रियों के आधुनिक सेल्फ के प्रति ग्रस्त थे।) इसके अतिरिक्त कृष्णा सोबती की विधा इतनी बड़ी भी नहीं होती थी, कि हम उसे उपन्यास कह पाएँ। कृष्णा सोबती द्वारा साहित्यिक लेखन की ऐसी विधा के चुनाव करने पर, जो बीच में कहीं पड़ती थी, शुभ्रा नागिया विश्लेषण करते हुए लिखती हैं, "ये साहित्यिक लेखन और मानकों की स्थापित शैलियों को ठेंगा दिखा रही थीं। जिन मानकों

का वे अतिक्रमण कर रही थीं, वे ऐसे मानक थे जो पाठकों के लिए सुविधाजनक होते थे क्योंकि पाठक इसे अपनी फुरसत के दौरान पढ़ लिया करते थे।”

कृष्णा सोबती के उपन्यास ऐसे थे जिनमें ‘स्त्रियों की ऐसी आवाज़’ थी जिसे अभी तक सुना नहीं गया था। यह स्त्रियों की एक ऐसी आवाज़ थी, जिसे किसी पुरुष लेखक ने शब्दबद्ध नहीं किया था, बल्कि इसे खुद एक सशक्त स्त्री लेखिका द्वारा शब्दबद्ध किया गया था। उन्होंने उस अचेतन को चुनौती दी, जहाँ स्त्रियों की सीधी-सादी, सुशील और विनम्र जैसी छवियों को मज़बूत किया जा रहा था। पुरुष लेखकों द्वारा स्त्रियों की इन छवियों को इस तरह गढ़ा जा रहा था कि स्त्रियाँ प्रेम करने लायक लगे ...प्रेमिका और प्रेयसी जैसी निर्मितियों को रचा जा रहा था। इसके बरअक्स जब हम कृष्णा सोबती के पात्रों को देखते हैं तो पाते हैं कि यौनिकता के प्रति मित्रो का दृष्टिकोण गैर-पारम्परिक है। इसी तरह एक पात्र महक बानो है, जो बहुत सारे स्तरों पर शोषण की शिकार है। निश्चय ही वह बहुत मज़बूत स्त्री है और वह दोनों तरीके की भूमिकाएँ बखूबी निभाती है— एक प्रेमिका की भी और एक मज़बूत व्यक्ति की भी। जिस तरीके से वह वकील साहब का सामना करती है और गहनों के मुद्दे पर उनसे जीतती है, उससे पाठकों को उसकी भीतरी ताकत का अहसास हो जाता है। कृष्णा सोबती के स्त्री पात्र सार्वभौमिक नारीवादी तत्त्वों के लिहाज़ से स्थिर, जड़ या गतिहीन नहीं हैं, बल्कि वे ऐसे पात्र हैं, जो कहानी के आगे बढ़ने के साथ-साथ गतिशील होते हैं। ये पात्र

सामाजिक मानकों को, पारिवारिक नैतिकता की, पाखंड की और मानवीय करुणा के घोर अभाव की आलोचना करने के क्रम में निरंतर आकार ग्रहण करते चले जाते हैं। मानवीय मूल्यों का सृजन करने में जेंडर संवेदनशीलता की आवश्यकता होती है और कृष्णा सोबती के यहाँ व्यक्ति की ऐसी आवाज़ अनोखे तरीके से मौजूद है। इन सन्दर्भों में मित्रों न सिर्फ़ ‘आधे-अधूरे’ की सावित्री से अलग है, बल्कि यह ‘डार से बिछुड़ी हुई’ की पाशो से भी अलग है, वह ‘सूरजमुखी अंधेरे के’ की रति से भी अलग है। यहाँ तक कि वह ‘ऐ लड़की’ की अम्मू और ‘समय सरगम’ की आरण्या से भी अलग है। यहाँ आकर हमें कृष्णा सोबती के अपने वक्त्रव्यों से भी मुक्ति मिल जाती है, जिनमें स्त्रीवाद के प्रति उन्होंने संदेह जाहिर किए हैं और उन पुरुष आलोचकों से भी, जिन्हें इसका भान नहीं है कि पितृसत्ता एक प्रतीकात्मक व्यवस्था है, भले ही वे उसे रोज़ गढ़ते हैं। मित्रो नई स्त्रीवादी सोच एवं सिद्धांत के लिए एक आहतादकारी चरित्र है, जिसे हम अपने ढंग से अब आलोचनात्मक लोक में ला सकते हैं और पढ़ सकते हैं। मित्रो अपने साथ अपने रचयिता को भी मुक्त करती है। इस अर्थ में कृष्णा सोबती को भी वह संदेह से देख सकती है कि उन्होंने क्यों उसकी कहानी का अंत ऐसा किया।



(एफएमएसएच, पेरिस द्वारा दी गई पोस्ट डॉक्टोरल फ़ैलोशिप के अंतर्गत ‘लव इन साउथ एशिया : बिटवीन नॉर्म्स एण्ड ट्रांसग्रेसन’ नामक विषय पर Centre d’ Etudes del “Inde et del” Asia du Sud : CEIAS-CNRS-EHESS में प्रस्तुत किए गए एक लम्बे शोधपत्र के कुछ अंश।)

अंग्रेज़ी से अनुवाद : प्रांजल धर
(‘आजकल’, फरवरी, 2018 अंक से)

‘बहनें’ की बहनें अपनी जड़ों से उखाड़ कर अलग-अलग दिशाओं में छिटका दी गई हैं परन्तु बचपन का जीया स्नेह और वक्त पड़ने पर एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर, एक पक्ष बन कर खड़े होने का विश्वास या फिर तमाम ऐसे मौकों पर एक-दूसरे की देखभाल और एक ही माता-पिता की संतान के रूप में अपने को आइडेंटिफाई करना और इस तरह साहचर्य जनित गहरे प्रेम का विकास होना, जिसे अंग्रेजी में ‘बॉन्डिंग’ कहते हैं, क्या ऐसी ‘बॉन्डिंग’ एक परिवार की या भाई-बहनों की नहीं हो जाती? जो परिस्थितियों के आलोक में मद्धिम जरूर दिखने लगती है पर खत्म नहीं होती और उसके कभी भी उभरकर बलवती हो जाने के खतरे बने रहते हैं।



अल्पना मिश्र

ई-मेल : alpana.mishra@yahoo.co.in

स्त्री विमर्श और कृष्णा सोबती की कहानी ‘बहनें’

कृष्णा सोबती ने कभी भी अपने को स्त्री विमर्श या नारीवाद से नहीं जोड़ा, किन्तु उनकी कहानियाँ या उपन्यास उन्हें स्त्री जीवन के गहरे सरोकारों से जोड़ते हैं और उन्हें स्त्री जीवन से जुड़े सामाजिक व सांस्कृतिक यथार्थ की पड़ताल की तरफ ले जाते हैं। उनकी यह स्त्री अलग-अलग वर्गों से आती है, पर ज्यादातर मध्यवर्गीय स्त्रियाँ ही उनके लक्ष्य में हैं। उनकी कहानी ‘बहनें’ भी इसी मध्यवर्गीय स्त्री को केन्द्र में रखकर लिखी गई है।

कृष्णा सोबती की कहानी ‘बहनें’ एक ऐसी कहानी है जो हमारे बहुत जाने-पहचाने जीवन दृश्यों को इतने सहज तरीके से रखती है कि एक ऊपरी और सरल पाठ दिखाई पड़ने लगता है। स्त्री की गृहस्थिन भूमिका में जुटे रहने के असंतोष और खासकर सगी बहनों की जीवन त्रासदी से जुड़े एक सीमित लगने वाले दायरे की कहानीभर लेकिन इतना ही होता तो यह कहानी न तो महत्वपूर्ण लगती और न इससे कोई बड़ी समझ बनती दिखाई पड़ती। और तब शायद इस पर सोचने और कुछ लिखने की मुझमें कोई इच्छा न पैदा हो पाती।

मैंने जब-जब इसे पढ़ा तो लगा कि यह बहनों के प्यार की और विछोह की कहानीभर नहीं है या बड़े दिनों बाद बड़ी बहन के बेटे के ब्याह के मौके पर मिली तीन बहनों की बचपन की गहरी स्मृतियों से छलछला

आई स्नेहाभूति की कहानी भर नहीं है। यह कहानी सहज मानवीय रिश्तों को न जी पाने की पीड़ा से आगे संश्लिष्ट यथार्थ के कई भीतरी उधड़ते धागों को अपने पाठक के हाथ पकड़ाती चलने वाली कहानी भी है। इसीलिए इस कहानी को पढ़ते हुए मिलने वाला जो पहला पाठ है, वह इकहरा न होकर अपनी संश्लिष्टता में अर्थ और इरादे की कई नई खिड़कियाँ खोलता है। तब सोचने की वाजिब वजहें तैयार दिखाई पड़ती हैं कि आखिर यह कहानी अगर उपर्युक्त कथानक भर नहीं है तो अपने तय कथानक के इधर-उधर कुछ सूत्र छोड़ती यह क्या कह रही है?

बहनों का बिलुडना एक परम्परागत समाज का स्वीकृत सत्य है और मिलने पर स्मृतियों की कचोट और प्यार का उमड़ना एक स्वाभाविक सत्य, फिर वे कौन-से धागे हैं, जिन्हें पकड़ते ही यह कहानी अपने कथानक के बड़े भीतर धँसे किसी तत्त्व से टकरा कर कैसी-सी कौंध पैदा करती है और पाठक के लिए ठिठककर कुछ विचार कर ले जाने का स्पेस खोल देती है। शायद इसीलिए यह कहानी भारतीय समाज में बहनों के साथ प्रायः घटित होने वाली एक सामान्य-सी घटना का ब्यौरा देती सामान्य कहानी नहीं रह जाती बल्कि अपने कथा सूत्रों के अर्थ खुलते ही सामान्य ब्यौरों से आगे बढ़ती अपने इरादों में ज़िम्मेदार और इसीलिए विशिष्ट बन जाने की तरफ़ खड़ी दिखने लगती है। इन कथा सूत्रों को पकड़कर चलते हुए फिर से उसी कथानक

से टकराना होगा, जो ऊपर से बहुत सरल शिल्प का लबादा ओढ़े हुए है।

कथा शुरू ही होती है स्नेह सम्बन्धों से बने भावुक परिवेश के ताने-बाने से, “आवेग में ओढ़नियाँ खिसकीं, बाँहें बाँहों से मिलीं और तीनों बहनें गले लग गईं— बड़ी, छोटी और मँझली। देह से लगी वर्षों की छाया क्षणभर के लिए अलग जा पड़ी। बचपन, माँ के आँगन और एक-दूसरे से लिपटीं वे तीनों। मीठे सगे दिन पलकों में तैरने लगे और आँखें भीग आईं। ममता से उमड़े गहरे आलिंगन, घर-गृहस्थी के डोरों में उलझे अंतर के नीचे छिपी प्यार की स्मृतियाँ उछल-उछलकर आँचल भिगोने लगीं। एक ही आँगन में खेली-कूदी, पर बड़ी होकर वे दूर-दूर किनारे से जा लगीं। घर-आँगन बदल गए, प्यार के नाते बदल गए और आस-पास जैसे अपनी अपनी परछाइयाँ घूमने लगीं।”

बहनें मिली हैं लम्बे अरसे के बाद और जाहिर है कि बचपन की स्मृतियाँ मिलते ही प्रबलता के साथ वर्तमान यथार्थ पर कुछ देर के लिए छा गई हैं। इतने लम्बे विछोह में बना वास्तविक यथार्थ उनकी चेतना से इस क्षण विलग हो गया है। स्नेह सम्बन्धों की प्रगाढ़ स्मृतियाँ निश्चित ही अपने आवेग में समय की लम्बाई को कुछ देर के लिए ढँक देती हैं लेकिन स्मरण रहे कि यह ढँकना क्षणभर का ही है— “देह से लगी वर्षों की छाया क्षणभर के लिए अलग जा पड़ी।” बचपन और माँ का आँगन इसी छोटे क्षण में फिर से सजीव हो उठा था लेकिन यह

आवेग क्षणभर का ही था और चूँकि क्षण भर में ही वास्तविक यथार्थ, धुँधलेपन को चीरकर प्रकट हो उठा है, इसलिए स्मृति की सजीवता पीछे छूटी हुई जान कर आँखों का भर आना सहज प्रक्रिया बन गया है। अब मीठे सगे दिन पलकों में तैर उठते हैं और आँखें भर आती हैं। यहाँ एक बारगी यह भी लगने लगता है जैसे लेखिका कह डालना चाहती हों कि यही नियति है, स्त्री का भाग्य। तो क्या कृष्णा सोबती नियति को स्त्री के पल्ले सरकाकर पाठक को निरी घटनात्मक भावुकता की ओर मोड़ ले जाना चाहती हैं? लेकिन नहीं, कृष्णा सोबती सावधान लेखिका हैं। वे क्षणभर की भावुकता से निकालकर अपने पात्रों के साथ पाठक को भी यथार्थ की धरती पर पैर टिकाने के लिए बाध्य कर देती हैं। नहीं यह नियति नहीं है, यह शोषणकारी व्यवस्था की रणनीतियाँ हैं, जो स्त्री को अधिक निहत्था, अधिक बेचारा और अधिक सहनशील बनाती हैं। स्त्री का उसके स्नेह सम्बन्धों से दूर कर दिया जाना, एक थोपी गई व्यवस्था का परिणाम है जो स्त्री को कुछ तय सम्बन्धों की ही इजाजत देती है। पितृसत्ता की नियमावली में स्त्री के स्नेह-सम्बन्धों के भीतर माता-पिता, भाई-बहन न होकर, कुछ तयशुदा सम्बन्ध निर्धारित हैं, जिनमें पति और बच्चे हैं, पति का परिवार है।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने सन् 1861 में ही इसकी पहचान कराते हुए स्नेह सम्बन्धों के तय किए गए दायरे को प्रश्नांकित कर दिया था। स्त्री के लिए तय की गई “सारी नैतिकता

उन्हें यह बताती है कि यह महिलाओं का कर्तव्य है और सभी मौजूदा भावनाओं के अनुसार यह उनका स्वभाव है कि वे दूसरों के लिए जिँ, पूर्ण आत्मत्याग करें और अपने स्नेह सम्बन्धों के अतिरिक्त उनका अपना कोई जीवन न हो। स्नेह सम्बन्धों से तात्पर्य सिर्फ़ उन सम्बन्धों से है, जिनकी उन्हें इजाजत है— वे पुरुष जिनसे स्त्री सम्बन्धित हो या वे बच्चे, जो पुरुष व उनमें एक अटूट व अतिरिक्त बन्धन होते हैं।”

इस तरह पितृसत्तात्मक नियमावली उन्हें तयशुदा सम्बन्धों से इतर अपने सहज स्नेह-सम्बन्धों को बनाए रखने या उनके उत्तरदायित्व से बँधे रहने की इजाजत नहीं देती। तयशुदा सम्बन्धों की अपनी अहमियत होती है या हो सकती है लेकिन क्या स्त्री के लिए उसके रक्त सम्बन्धों में भाई-बहन का सम्बन्ध मूल्यवान नहीं होता। क्या वह किसी आचार संहिता द्वारा खारिज कर दिए जाने से पूर्णतः ख़त्म हो जाता है? यदि पुरुष जन्म से प्राप्त अपने स्नेह सम्बन्धों को बनाए रखता है तो स्त्री से ही उसके सहजात सम्बन्धों का त्याग कराकर और इसके लिए उसे महिमा मंडित करने के पीछे आखिर सत्ता की राजनीति क्या है? क्या यह उसे जड़ से उखाड़ कर अकेली और कमज़ोर बना देना नहीं है? अकेला पड़ा व्यक्ति आसानी से दासत्व की पकड़ में आ सकता है। उसकी लाचारी और निरूपायता उसे अपनी अवमानना और अन्याय को सहन करने के लिए मनोवैज्ञानिक रूप से तोड़कर तैयार कर देती है।

इसके तहत देखें तो 'बहनें' की बहनें अपनी जड़ों से उखाड़ कर अलग-अलग दिशाओं में छिटका दी गई हैं परन्तु बचपन का जीया स्नेह और वक्त पड़ने पर एक-दूसरे का हाथ पकड़कर, एक पक्ष बनकर खड़े होने का विश्वास या फिर तमाम ऐसे मौकों पर एक-दूसरे की देखभाल और एक ही माता-पिता की संतान के रूप में अपने को आइडेंटिफाई करना और इस तरह साहचर्य जनित गहरे प्रेम का विकास होना, जिसे अंग्रेजी में 'बॉन्डिंग' कहते हैं, क्या ऐसी 'बॉन्डिंग' एक परिवार की या भाई-बहनों की नहीं हो जाती? जो परिस्थितियों के आलोक में मद्धिम जरूर दिखने लगती है पर खत्म नहीं होती और उसके कभी भी उभरकर बलवती हो जाने के खतरे बने रहते हैं। इस 'बॉन्डिंग' के खतरे को भाँपकर ही एक ज़माने तक बहनों को अपनी ससुराल में अपने भाई से अकेले में बात करने की इजाजत नहीं थी। इसके पीछे के तर्क बड़े ही अश्लील और रिश्तों को अविश्वसनीय बनाने वाले थे। इस प्रेम की प्रबलता के कारण स्त्रियों और पुरुषों दोनों को इन सम्बन्धों के त्याग को समाज और जीवन का जरूरी हिस्सा मानने के लिए, मानसिक रूप से तैयार करने हेतु वर्षों तक दिमागी कंडिशनिंग की जाती है। स्त्रियाँ स्वयं ही इसे छोड़ दें और अपनी सबसे मज़बूत, भरोसेमंद स्थितियों के त्याग में पवित्र महिमा से जड़ी खुद को जड़हीन बना लें। ऐसे में बहनों का हस्तक्षेप भला कहाँ कोई जगह रखता है! अगर बहन बड़ी हुई तो पहले ही दूर-

दूर छिटकाकर दुरभिसंधियों के किले में कैद की जा चुकी होती है और अगर छोटी हुई तो कैद किए जाने की तैयारी का उनका प्रशिक्षण जारी रहता है। वे अपनी बहन की शादी-शुदा ज़िन्दगी में हस्तक्षेप करने से यथासम्भव दूर रखी जाती हैं या इस तर्क के साथ उन्हें चुप करा दिया जाता है कि 'उन्हें अभी विवाहित ज़िन्दगी की जटिलताओं का कोई अनुमान नहीं है। इसलिए वे क्या जानें कि बहन की ज़िन्दगी की परेशानियाँ कैसे हल होंगी और फिर उनकी अपनी शादी पर इसका असर आ सकता है। रिश्ता बताने वाले यही रिश्तेदार होते हैं तो उनकी नज़रों में आचारसंहिता का पालन करने वाली एक अच्छी लड़की बने रहना जरूरी है।' यह तर्क भविष्य के लिए डराता है, धमकाता है और तयशुदा स्नेह सम्बन्धों से इतर अपने स्नेह-सम्बन्धों का मददगार बनने से रोकता है।

दूसरी तरफ़ शादी-शुदा बहन पर पति का शासन होता है। शासक की मर्जी पर है कि वह अपनी पत्नी रूपी दास के लिए कितना स्पेस तय करता है। इस स्पेस में उसकी शादी-शुदा बहन का आना मुश्किल ही है। नतीजा केवल औपचारिक सम्बन्धों तक ही इसे बनाए रखना एक तरह की विवशता बन जाती है। इसके बावजूद बचपन की बॉन्डिंग से तैयार भीतर का तार जो है वह उन्हें आपस में कहीं जोड़े ही रह जाता है। इसी का परिणाम है कि जब तीनों बहनें, बड़ी बहन के बेटे के ब्याह में मिलती हैं तो बड़ी बहन की ममता और बड़ी होने

के नाते छोटी बहनों के लिए, वह स्थगित किया प्यार और देखभाल का भाव उभरकर प्रकट हो जाता है। वह अचानक ही अपनी बहनों की सगी बन जाती है। बड़ी का छोटी बहनों की चिन्ता करना इसी सत्य की तरफ ले जाता है। यहाँ तक कि बड़ी बहन, छोटी बहनों की पसन्द-नापसन्द को भी नहीं भूली है। यह तो गहराई तक जुड़े होने की हद ही है कि इतने वर्ष बीत गए इन्हें अलग हुए, इस बीच इतनी तो अलग तरह की जिम्मेदारियाँ लाद दी गईं पर, पर जिगरा है कि उस नेह को अब तक सम्भाल कर रखे हैं! परन्तु इस नेह का प्रदर्शन इतना आसान भी नहीं है स्त्री के लिए! इतने समय से जिस पितृसत्ता ने उसे अपने इन पुराने रूपों से बेदखल किया हुआ था, वह इस छोटे से समय के प्यार-दुलार और देखभाल में थर्रा उठती है, सिंहासन डोलने का भय उसे होने लगता है। इसलिए पितृसत्ता के प्रतिनिधियों की आँखों में ये स्त्रियाँ तुरन्त चुभने भी लगती हैं। इस भाव को तत्काल ही मँझली और छोटी बहनें भाँप लेती हैं। इसी समय, काल नियन्त्रण के फार्मूले के तहत समाज नियन्त्रण के लिए पितृसत्ता के प्रतिनिधि पात्र बूढ़ी सास का कथा में प्रवेश होता है।

“बुढ़िया में कोई फ़र्क नहीं। कमर झुक गई है, पर आँखों में परखने की वही तेज़ी है।”

सास का यह फ्रेम्ड चरित्र है, जिसे समाज ने जतनपूर्वक गढ़ा है। यह बुढ़ापा कोई ग्रेसफुल बुढ़ापा नहीं है, बल्कि अपनी असुरक्षा से त्रस्त, अपनों को ही अपनी

सुविधाओं का भविष्य बनाता बेहद सनकी और गिद्धदृष्टि सम्पन्न बुढ़ापा है। इसके लिए लेखिका कहती हैं कि “कमर झुक गई है” यानी अनुभवों ने उम्र के इस पड़ाव तक पहुँचा दिया है, परन्तु इन अनुभवों से कोई सोच उनकी बनती नहीं है, सिवाय यह जान जाने के कि अब उन्हें पहले से अधिक स्वार्थी होना है, क्योंकि वह पहले से अधिक बेचारी हुई है। यहाँ उदारता का लेशमात्र भी नहीं दिखता, जिसकी समझ और उम्मीद एक अनुभवसम्पन्न वृद्ध महिला से की जानी चाहिए। बड़प्पन, जिसकी दुहाई देते-देते समाज की जीभ छिल जाती है, कहीं दूर तक दिखाई नहीं देता। यह मध्यवर्गीय समाज का जाना-पहचाना, स्त्रियों के हिस्से आया बुढ़ापा है, जिसमें शरीर की शक्ति क्षीण हुई है पर आँखों की शक्ति बढ़ गई है। और अब वह शरीर के ठसकपने और धौंस की बजाय आँखों की कठोरता से काम लेती दिखती है। इसीलिए “मौसी बैठने को हुई और आस-पास निगाह घुमाकर बहू की बहनों के सामान पर नज़र डालने से चूकी नहीं। फैली हुई चीज़ों में फलों और मिठाइयों के बड़े-बड़े टोकरे दीखे...”।”

आँखों की यह शक्ति अपना लाभ और दूसरों की हैसियत परखने से नहीं चूकती। यह बूढ़ी सास भी, इस उम्र में पहुँचकर बहू के मायके की हैसियत तौलने में पहले से ज़्यादा पारखी हो गई है। यानी अब, जबकि उसकी बहू के बेटे की शादी का समय है, तब भी वह बहू के मायके की औकात, उसकी बहनों के लिए सामान से तौलना चाहती है।

बहनों को समाज का यह नियम बखूबी पता है, इसलिए उनकी आँखों से भी यह नहीं चूकता कि बुढ़िया उनके सामान पर नज़र डाल रही है। वे जानती हैं कि उनके लिए सामान से बहन की इज़्ज़त जोड़ी जाएगी, स्नेह का यहाँ कोई सामाजिक मूल्य नहीं है। समाज ऊपरी आवरणों को ही वास्तविक बनाकर प्रचारित करता है और इस तरह नए जीवन की तरफ़ क़दम रखने वाली लड़की को आसानी से अपमानित करने का हथकंडा पा जाता है। चूँकि अपने स्नेह-सम्बन्धों से एकदम विरक्त हो जाना किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए सहज स्थिति नहीं है, इसलिए इन रणनीतियों के द्वारा उसे हतोत्साहित किया जाता है। हालाँकि बहनों ने यह भी देख लिया है कि नियम के विरुद्ध जाकर बड़ी बहन ने उनके सामान को वरीयता में न रखकर, उनके स्नेह को प्रमुखता दी है और अगर बार-बार उनका गला भर आता है तो इसलिए कि वे बहनों के दुःख को अपने सुख के आगे कमतर कर के नहीं देख रही हैं जबकि बूढ़ी सास बहू की बहन की दुःखती रंग पर बड़ी निर्ममता से हाथ रखती है, “सुना था कारोबार के दो हिस्से हो गए हैं। बेटी, देवर देवरानियाँ तो वहीं हैं न? छोटे देवर के यहाँ लड़का हुआ है, बधाई हो। उस दिन बहू ही कह रही थी कि देवर के लड़के को मँझली गोद ले रही है।” छोटी ने मँझली के मुख पर विरक्ति की फीकी-सी मुस्कान देखी।

मँझली और छोटी, जो अपनी बड़ी बहन की खुशी में शामिल होने आई हैं और

बार-बार अपने संतानहीन होने के निजी दुःख को पीछे रखकर प्रसन्न हैं, पर समाज को यह कैसे सहन हो सकता है? उसके द्वारा तय की गई स्त्री की प्रजनन की भूमिका ही वह नींव है, जिस पर विवाह, परिवार और समाज टिका है, इसके बिना समाज में स्त्री का अस्तित्व ही क्या है। प्रजनन की दी गई भूमिका में अयोग्य साबित हुई स्त्री के समूचे अस्तित्व को समाज ख़ारिज कर देता है। एक समय तक ‘बाँझ’ शब्द स्त्री के लिए सबसे बड़ी ग़ाली रहा है। इस कारण उसे प्रायः ही भयानक सामाजिक अपमान और परित्यक्ता की पीड़ित भूमिका से गुज़रना पड़ा है। कई बार तो उसे अपने ही हाथों अपने पति का दूसरा विवाह कराकर स्वयं के लिए भीषण अकेलेपन से घिरा दासत्व चुन लेने की विवशता भी झेलनी पड़ी है। इसे कितना भी त्याग की महिमा से जोड़ा जाए, झेलने वाला ही जानता है कि वह कितना लाचार और अकेला पड़ गया है, कि उसके इस क़दम की सराहना से भी बड़ा सत्य यह है कि उसकी अनुमति की वस्तुतः कोई ज़रूरत नहीं रही है।

रीप्रोडक्शन, समाज व्यवस्था को बनाए रखने की ऐसी ज़रूरत है जो स्त्री के बिना सम्भव नहीं हो सकती इसी कारण पितृसत्ता इसे स्वतन्त्र रखने से भयभीत भी होती है और उसे नियन्त्रित करने के हज़ार तरीक़े अपनाती है। स्त्री को समान अधिकार रखने वाले मनुष्य की बजाय पति की सम्पत्ति में रीड्यूज़ करना, उसकी इसी राजनीति का हिस्सा है। ‘मनुसंहिता’ इस बारे

में एकदम स्पष्ट और मुखर है। मनु, पत्नी को पति की वैवाहिक सम्पत्ति घोषित करते हैं और उसे “गायों, घोड़ी, ऊँटनी, दासी, भैंस, बकरी, भेड़” के वर्ग में रखते हैं। इस पत्नी नामक सम्पत्ति का मुख्य काम वंश वृद्धि है और इस काम में यदि वह असमर्थ साबित होती है तो वह समाज, परिवार के किसी काम की नहीं रह जाती, क्योंकि दास भाव में स्थापित अन्य स्त्री भी पूर्णतः समर्पण और सेवा में जुटी है, जो कि रीप्रोडक्शन में भी उपयोगी है। इसलिए प्रजनन में असमर्थ स्त्री को समाज से अलग रखा गया है। उसे जीवन से जुड़े उत्सवों, विवाह आदि शुभ कार्यों से भी अलग रखा गया। ‘बाँझ’ शब्द को गाली की तरह प्रयुक्त करने के पीछे स्त्री की इसी भूमिका के महत्व और इसके पूरा न होने पर स्त्री के अस्तित्व को ही नकार देने की रणनीति निहित थी। स्त्री के दिमागी अनुकूलन में यह बात बैठा दी जाती थी कि यही एक ऐसा कर्त्तव्य है, जो वह समाज के लिए कर सकती है, इसके कारण ही घर, परिवार से लेकर समाज व्यवस्था के भीतर उसकी बहुत थोड़ी लेकिन कुछ जगह बन पाती है।

प्रस्तुत कहानी में भी बड़ी बारीकी से, समाज द्वारा बाँझ स्त्री को धीरे किन्तु धारदार तरीके से खारिज किया जाना शामिल दिखता है। इसलिए बड़ी की सास को अगर अपनी बहू की बाँझ बहन का इस शुभ अवसर पर आना कोई सुखद अहसास नहीं जगा पाता तो यह अकारण नहीं है। समाज ने उसकी मनःरचना के भीतर ऐसी ही चीजें

बसा डाली हैं कि वे खुशनुमा माहौल के बीच भी मँझली को उसकी संतानहीनता के लिए छीलने-काटने में संकोच नहीं कर पाती हैं। यह बोध कराते रहना दरअसल समाज द्वारा संतानहीन स्त्री को पग-पग पर दिया गया दंड है, जो लगातार उसके आत्मविश्वास को ध्वस्त करता चलता है और उसे एक अज्ञात नियति के हाथों अपने को निष्क्रिय छोड़ देने की तरफ ढकेलता है। न कि प्रतिरोध में खड़े होकर अपने तर्क रखने की हिम्मत पैदा करने लायक बनाता है, जो कि एक निहायत मानवीय जरूरत है। इस तरह स्त्री के आत्मविश्वास को तोड़ते रहना, स्त्री पर नियन्त्रण बनाए रखना आसान बनाता है। मँझली के भीतर पैदा हुई विरक्ति भी सामाजिक जीवन से निष्क्रियता की तरफ ले जाने का संकेत देती है। आखिर उसकी सोच का सिर्फ यही केन्द्र रह जाता है कि संतानहीनता के कारण परिवार और समाज में उसने अपना स्थान खो दिया है। यह सोच उसे पलभर में ही अपने संसार से बेगाना बना सकती है और उसमें विरक्ति भर सकती है।

हालाँकि आज शिक्षा और विज्ञान की अनेक जानकारीयों स्त्री को तमाम पूर्वाग्रहों से मुक्त करने की तरफ ले गई हैं। तथापि आज भी समाज के भीतर ‘पुत्रवती’ वाली मानसिकता गहरे जड़ जमाए दिखती रहती है। अनेक स्त्रियों का कटुतापूर्ण वैवाहिक जीवन इन्हीं पूर्वाग्रहों की देन है। पुत्रवती वाला पूर्वाग्रह एक कँटीले तार की तरह समाज को जकड़े हुए है जो न तो स्त्री को

सहज रूप से जीवन के उल्लास में शरीक होने देता है, न ही पुरुष को सामान्य रह जाने देता है। स्त्री की इसी मातृ शक्ति का उपयोग पूरे समाज के कल्याण में हो सकता था अथवा उसकी अन्य प्रतिभा का उपयोग समाज की उन्नति में किया जा सकता था, किन्तु इस एक शर्त से स्त्री की बुद्धि और अन्य क्षमताएँ समाज से बाहर धकेल दी जाती हैं, इससे निश्चित तौर पर समाज का नुकसान होता है किन्तु हम किस नुकसान की बात सोच रहे हैं? एक सन्तुलित और मानवीय समाज के बारे में! क्या यह संरचनागत कमी के रूप में नहीं दिखाई पड़ेगा कि एक खास प्रजाति के मनुष्य की बुद्धि को सीधे तौर पर खारिज कर दिया जाए! क्या यह समाज व्यवस्था के जनकों के असुरक्षा बोध और मानसिक कमजोरी को नहीं दर्शाता!

लेखिका एक क्रम और आगे बढ़ते हुए समाज की उस हस्तांतरण प्रक्रिया की पहचान भी कराती हैं, जो कब चुपचाप इस द्वंद्व-फंद को अपनी आगामी पीढ़ी की तरफ सरका देता है। कब सत्ता अपने पुराने प्रतिनिधि से अधिकार उठाकर नए प्रशिक्षित प्रतिनिधि के सुपुर्द करने लगती है! सामान्यतः इसका पता तब चलता है जब कुछ बहुत खुलकर सामने आ जाता है या कोई घटना घटित होते हुए इसकी तरफ ध्यान दिला जाती है लेकिन इस कहानी में मामला इतना खुला हुआ नहीं है, इसलिए पहचान भी उस बारीक तन्तु की है जो स्वभाव की सूक्ष्मताओं के भीतर से झरकर आ रहा है

और वाक्यों की परतों के पीछे छिपा हुआ है। इसलिए आते ही बहनों को बड़ी बहन में आया परिवर्तन दिख जाता है। हालाँकि यह इतने मुलायम ढंग से कहा जाता है कि अपनी सारी आक्रामकता को छिपा ले जाता है, तब भी, मन्तव्य छिपा नहीं रह पाता है, झलक उठता है, “छोटी ने देखा, आज नाते-रिश्तों से भरे ब्याह वाले घर में बहन सचमुच ही मालकिन-सी लगती है। सगुणों की लाल ओढ़नी में उसका साफ़ रंग और भी निखर उठा है। चाल में अधिकार है और हृदय में दूल्हे की माँ होने की उमंग।” यह सचमुच की मालकिन-सी लगना और चाल में अधिकार भाव का आ जाना अचानक घटित हुई घटना नहीं है, वरन धीरे-धीरे सत्ता हस्तांतरण की प्रक्रिया से गुज़रकर आज यह प्रत्यक्ष हो सका है। यह प्रक्रिया धीमी किन्तु गहन है। बड़ी बहन को बोध तक नहीं है कि कब वह अपनी सास के अधिकार पद की स्वामिनी बनने की तरफ चलती चली गई है और आज इसे ऐलानिया तौर पर उसकी सत्ता का प्रदर्शन तय करता है। सास का चौकना और स्वीकार करना भी आज अपनी सारी कटुता के साथ प्रत्यक्ष हो पाया है कि वह भी कटु से कटु होने की तरफ बढ़ती चली जाएगी क्योंकि सत्ता के हस्तांतरित हो जाने पर, उसके पास ठगे जाने की पीड़ा और अस्थायित्व की कुंठा के अलावा क्या बचता है!

एक तरफ बड़ी बहन की बचपन में अपनी बहनों के साथ बनी ‘बाँडिंग’ है, जो वक्त मिलते ही उभर आती है तो दूसरी

तरफ़ उसका अधिकारबोध है, दोनों भाव मिलकर बड़ी की वह छवि रचते हैं जिसे हमारी समाज व्यवस्था ने स्त्री के ऊपर रीति, रिवाजों, मर्यादाओं, नीति, नियमों, आदर्शों, नैतिकता जैसे तमाम बन्धनों और काल्पनिक महानताओं की ओवर लोडिंग से रचा है। इसलिए एक तरफ़ तो बड़ी बहन क्षणभर को ही सही, अपनी बहनों को अपने स्नेह और देखभाल की इच्छा का अहसास करा देना चाहती है और दूसरी तरफ़ अपनी सास को बिना खास शब्दों के भी यह जता देना चाहती है कि अब उनके दिन लद गए और अब अधिकार स्थानान्तरित होकर उसमें प्रतिष्ठित होने का वक़्त आ गया है। लेखिका इसे अपने खास चुटीले अंदाज़ में कह जाती हैं, “सास को लगा, जैसे बहू आज्ञा दे रही हो। ...जैसे बहू उसे सुना-सुनाकर कह रही है। उसका जी जल उठा। कभी था, जब उसकी आज्ञा के बिना बहू किसी को पानी तक न पूछ सकती थी और आज हाथ में हुक्म हासिल आते ही अपने सगों के चोंचले मानने लगी।”

यह हुक्म हासिल आखिर इस तरह बहू के भीतर कब दाखिल हो गया? और अचानक ही सास को यह कैसा बोध सालने लगा! क्या देख लिया इस बूढ़ी अनुभव पकी स्त्री ने? क्या अपना अधिकारहीन लाचारी की तरफ़ बढ़ता समय या अपने ही हाथों जिसका शोषण करने में रत्तीभर न सोचना पड़ा था, उसी के हाथों में हुक्म हासिल आ जाना! क्या सत्ता च्युत होना और अधिकार भाव खो देना बुढ़िया को किसी उदारता से भर सकेगा? या कि अपने आस-पास की

दुनिया के लिए उसे और निमर्म ही बना पाएगा, जैसाकि बड़ी बहन की छोटी बहनों के दुःख को कुरेदने के उसके कौशल में पाठक देख ही लेता है।

एक क्षण को यह उम्मीद जगती है कि बड़ी बहन इस व्यवस्था को कुछ तोड़-फोड़कर अपने मनोनुकूल कर ले जाने की कोशिश की तरफ़ बढ़ने वाली है पर ऐसा नहीं हो पाता। इसका कारण बड़ी की कोशिश का नाकाफ़ी होना नहीं है, बल्कि बहनों का अपने-अपने परिवार की ज़द में इस तरह घिरा होना है और स्वयं बड़ी बहन के सिर भी अपने परिवार की सार-सम्भाल का ऐसा गहरा ज़िम्मा है कि इनमें से कोई भी इन दीवारों को तोड़कर अपना मनचाहा कर ले जाने की तरफ़ नहीं जा सकता। वे स्पष्ट रूप से एक-दूसरे का सुख-दुःख बँटा सकने से बहुत दूर पहुँचाई जा चुकी हैं। ध्यान देने की बात है कि वे दुःख भी नहीं बँटा सकतीं और सुख भी बँटा पाने की काबिलियत खो देती हैं। वे केवल दुःखी हो सकती हैं और वह भी क्षणभर के लिए।

दूसरी तरफ़ बड़ी के हिस्से यह अधिकार भाव इतनी देर में आया है कि उसके हाथ से तमाम चीज़ें जा चुकी हैं। यह अधिकार इसलिए दिया भी नहीं गया है कि वह इसमें अपनी विवेक बुद्धि का बेजा इस्तेमाल करने लगे। ऐसी स्थिति में यह अधिकार वापस भी लिया जा सकता है। यह तो सास की जगह लेना, उनका स्थानापन्न बन जाना और आने वाले भविष्य के साथ लगभग वैसा ही सलूक बनाए रखने की

तरफ़ ले जाने के लिए है। यह चली आ रही व्यवस्था को मेंटेन करने का मज़बूत तरीक़ा है। स्त्री के मन में इस अधिकार भाव को पा लेने की ख़्वाहिश तभी से जगा दी जाती है जब वह बहू बनकर आती है, क्योंकि यही एक जगह है जहाँ से उसकी कोई बात सुनी जा सकती है। इसी के साथ यह भय भी नत्थी है कि यदि वह सास वाले अधिकार भाव अपने में न भर पाई तो उसकी बहू, उसकी क्या खाक सुनेगी!

जब एक स्त्री को बूढ़ी होने के कारण अथवा उसकी बहू के सास के पद पर आ जाने के कारण, उसके एक व्यक्ति पर निरंकुश शासन के अधिकार से हटाकर विकल्पहीनता की तरफ़ ढकेल दिया जाता है और उसकी आँखों के सामने ही उसी के गुलाम को यह पद थमा दिया जाता है तब यह प्रक्रिया बूढ़ी सास को किसी गौरवमय बुढ़ापे की तरफ़ न ले जाकर प्रायः ही निरीहताओं और उनके भीतर से उपजी कठोरताओं और कभी-कभी क्रूरताओं की तरफ़ भी लेता जाता है जबकि बहू को सास बनते ही निरंकुश शासन के उन्हीं पैतरो की तरफ़। इसमें अपनी चेतना को थोड़ा-सा पा जाने वाली स्त्रियाँ स्थिति को बदतर होने से बचा ले जाने की बेहतर कोशिशों की तरफ़ जाती भी दिखती हैं। कहानी में सास की निरीहता खुलती है तो खुलती ही चली जाती है, उनमें चिड़चिड़ाहट और कड़ुआहट भरती हुई, “बुढ़िया ने तेवर चढ़ाकर बहू की ओर देखा। कभी ज़माना था, सास की इन आँखों के सामने बड़ी का सिर न उठता था। पर आज... आज बुढ़िया

की आँखों में नहीं, बड़ी के चेहरे पर उस अधिकार का बोध है। ...क्रोध और दुःख से सास का मन भर आया। जिन बेटों और पोतों के पीछे वह मनौतियाँ मना-मनाकर बूढ़ी हो गई, उसी बहू के ये लच्छन!”

यहाँ मन में यह ख़्याल आए बिना नहीं रहता कि यदि बूढ़ी सास ने एक स्त्री के तौर पर इन स्थितियों को समझने की कोशिश पहले की होती और समय रहते परिवार में आई दूसरी स्त्री को दमन के अनेक रूपों से नियन्त्रित करने के बजाय कुछ दोस्ताना विकसित करने की तरफ़ गई होती तो शायद स्थिति थोड़ी बेहतर बन पाई होती पर पितृसत्ता इन्हीं पैतरो से स्त्री को स्त्री के खिलाफ़ खड़ी किए रहती है। अन्यथा प्रायः परिवारों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक या बराबर होती है किन्तु संगठित होने और एक-दूसरे का विश्वास अर्जित करने की तरफ़ जाना उनके लिए इस संरचना के भीतर प्रायः मुश्किल ही बना रहता है। दूसरे पितृसत्ता की विश्वसनीयता अर्जित करने के लिए किए गए कार्य-व्यवहार भी प्रायः स्त्री को स्त्री के खिलाफ़ अधिक निर्दय और निरंकुश बना डालते हैं, जबकि इसका कुल हासिल क्या मिलता है? क्या सास का यह निरीहता की तरफ़ लुढ़कता हुआ चित्र इस हासिल की स्पष्ट पहचान नहीं कराता? और इस सबको ओझल करता बड़ी का ठसकदार व्यवहार कुछ नहीं कहता? और इन सबके बीच रोशनी, जगमगाहट और खुशबुओं से सराबोर जीवन का उत्सव चलता नहीं रहता? □

देहाती पंजाबी में लिखने वाली कृष्णा सोबती ने एक भिन्न भाषा से हिन्दी पाठकों का परिचय कराया था। 'मित्रो मरजानी', 'जिन्दगीनामा' में वह देहाती पंजाबी भाषा में लिखती हैं तो 'दिल-ओ-दानिश' में शहरी उर्दू, 'यारों के यार' में अंग्रेजी और हिन्दी का मिश्रण है। भाषा पर उनकी ग़ज़ब की पकड़ थी जो उन्हें अन्य लेखकों से अलग करती है और निर्मल वर्मा और 'रेणु' के निकट खड़ा करती है।

स्त्री चेतना का चैतन्य

कृष्णा सोबती के लिए जीवन लेखन था और लेखन जीवन ही था। देह और आत्मा के बीच संवाद की अर्गला। समय के साथ उनकी लेखनी करवटें लेती रही और मुखर महिला पात्रों को जन्म देती रही। उनके स्त्री पात्र कठोर जीव भले ही थे लेकिन सच्चे और बेबाक थे। पात्र वह नहीं थे जो किताब बंद करते ही स्मृति से विलीन हो जाएँ, बल्कि वह तो पाठकों के साथ कभी न खत्म होने वाला रिश्ता जोड़ लेते थे।

उनके सभी स्त्री पात्र 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'रस्ती की कठिन यादें' और 'उदास आँखों वाली तड़प' या 'डार से बिछुड़ी' से लेकर 'ऐ लड़की' तक निडर थे, भले ही अजय न हों।

कृष्णाजी से मिलना आकस्मिक ही हुआ जब 2007 में एक सर्द शाम को एक पुस्तकालय में 'जिन्दगीनामा' से मिली। उनका मिलना न जाने कितने आयाम खोलता चला गया। स्त्री की 'न' नहीं ही होती है और यह कि स्त्री भी 'न' कह सकती है।

उनके स्त्री पात्र भले ही भव्यता लिए न हों लेकिन बेबाक थीं, मुखर थीं, ग़लत को ग़लत कहना जानती थीं।

बहुत ही विशिष्ट भारतीय सामाजिक सन्दर्भ में अंतर्निहित सार्वभौमिक रूप से पहचाने जाने वाले प्रेम त्रिकोण लिखती कृष्णा सोबती कभी शायद ही सोच पाई होंगी उनसे मीलों दूर बैठकर उनके पाठक 'मित्रो की कठोर जीभ' सी भी जीव चाहते हैं, चाहे कभी-कभी ही सही।

देहाती पंजाबी में लिखने वाली कृष्णा सोबती ने



किरण मिश्रा

ई-मेल : kiranpmg@gmail.com

एक भिन्न भाषा से हिन्दी पाठकों का परिचय कराया था। 'मित्रो मरजानी', 'ज़िन्दगीनामा' में वह देहाती-पंजाबी भाषा में लिखती हैं तो 'दिल-ओ-दानिश' में शहरी उर्दू में 'यारों के यार' में अंग्रेज़ी और हिन्दी का मिश्रण है। भाषा पर उनकी ग़ज़ब की पकड़ थी जो उन्हें अन्य लेखकों से अलग करती है तथा निर्मल वर्मा और 'रेणु' के निकट खड़ा करती है।

उनके उपन्यास के मुखर पात्रों ने भाषा के द्वारा समाज के सभी सत्य को उजागर कर दिया जिससे वे न सिर्फ़ हिन्दी बल्कि अन्य भारतीय साहित्य के लेखकों में भी अद्वितीय बन गईं। उन्होंने अपने लेखन से लेखन के मापदंड को तोड़ा। ऐसा लगता था कि उनके मुखर व्यक्तित्व से उनकी कृतियों में आते थे। विरोध दर्ज कराती उनकी महिला पात्र उनके मुखर व्यक्तित्व का

आईना थीं। जब अमृता प्रीतम ने एक किताब का नाम 'हरदत्त का ज़िन्दगीनामा' रखा तो उन्होंने कॉपीराइट उल्लंघन का मामला बता उस पर अपना विरोध दर्ज किया।

आज जैसे रोज़-रोज़ नई किताबें लिखी जा रही हैं। सबमें एक-सी भाषा, एक-सी कहानी, एक-सी सामाजिक समस्या होती है। इतना शोर है कि पात्रों की आवाज़ सुनाई ही नहीं देती, ऐसे में कृष्णा सोबती का लेखन

बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। उनके पात्र पाठकों के एहसास को अपनी साँसों में समा कर हमारे अनकहे को शब्दों में गहराई से उकेरते थे। जहाँ अन्य लेखकों की क़लम अक्सर लाचार हो असहाय होकर मूक हो जाती है वहाँ कृष्णा सोबती के पात्र अपनी परिधि से बाहर छलाँग लगाकर वर्षों से जकड़े स्त्री मन की बात एक भी क्षण बिना रुके अपनी बात कह जाते हैं।

फ़्रीमेल सेक्सुअलिटी पर कायदे से लिखे किसी अच्छे उपन्यास की तलाश अगर आप कर रहे हैं तो आपको सोबतीजी को पढ़ना ही पड़ेगा। स्त्री की शारीरिक इच्छाओं पर गरिमा और संवेदना से बात करती स्त्री मन की चितेरी थी।

लेखक अशोक वाजपेयी कहते हैं-

“उनका साहित्य दुर्लभ जीवंतता का साहित्य था, जो जीवन

और उल्लास से भरा हुआ था, साहसपूर्वक प्रयोगात्मक और प्रयोगशील था और फिर भी परम्परा और नस्लीय स्मृति में निहित था।”

कृष्णाजी ने अपने समय से बाहर जाकर लेखन किया। सन् 1972 में आई 'सूरजमुखी अंधेरे के' एक मनोवैज्ञानिक कहानी थी जिसमें एक महिला के विकृत मनोविज्ञान को बताया गया था। बचपन में बलात्कार होने से वह ठंडी, क्रूर और असहिष्णु बन जाती



कृष्णा सोबती

है। एक पुरुष के स्नेह, प्रेम, दया को पाकर अपने जटिल व्यक्तित्व से धीरे-धीरे अलग होती है। स्त्री पात्र की संवेदना को कृष्णाजी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि बनकर रचा जो उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण को दर्शाता है।

कृष्णा सोबती का लेखन भले ही नफ़रत, दर्द, दमन, साम्प्रदायिकता के खिलाफ़ था लेकिन उनमें एक प्रेमयुक्त सर्जन मन था। बँटवारे के बाद अपना घर, हवेली, शहर भले ही वे छोड़ आई थीं लेकिन सर्जनात्मक मन लिए वह जो इस पर आई थी उस लेखन में उन्होंने सरहद का बँटवारा कभी नहीं किया। उन्होंने ऐसा उल्लासपूर्ण गद्य लिखा जिसमें हिन्दी-उर्दू थी तो फ़ारसी, पश्तो, पंजाबी और सरहद के उस पार की बोलियाँ भी थीं। उनके लेखन में फ़रीद गाते थे तो बुल्लेशाह, नानक, कबीर मार्गदर्शन करते थे। उनका कहना था-

“सृजन कभी जान-बूझकर और कभी अनजाने में किसी शुभ क्षण में लेखक की अंतरात्मा पर दस्तक देता है.. एक लेखक की अंतर्दृष्टि इस संसार की अनंतता में मानव अस्तित्व के लिए अमरता की खोज करती है।”

उनके पात्रों में सब कुछ विधेयात्मक है। अंतरात्मा पर दस्तक ही पात्रों के अस्तित्व की व्याख्या है जो आज के लेखकों के लिए संदेश है। मन की सृजन स्थिति के सहारे ही एकाग्रता, तन्यमयता, लगन, धैर्य, श्रम से ही कोई लेखक बन सकता है।

अपनी तत्त्वदृष्टि से ऊँचाई पर बैठी कृष्णा सोबती अपनी कृति के ब्रह्माण्ड में गहराई से अंतर्भुक्त थीं।

पूर्वजों द्वारा मिले संस्कार व जीवन मूल्यों पर अपनी पकड़ को दृढ़ता से पकड़े कृष्णाजी ने कहा था, “एक लेखिका किस तरह अपने पूर्वजों को स्वीकार करती है, न कि केवल अपने पर उनकी दृष्टि केन्द्रित करती है, किस तरह वह अपने समकालीनों के साथ रिश्ते बनाती है और किस तरह वहाँ अपने विचारों में पुराने और नए को लाती है— यह सभी साहित्यिक व्यवहार एक लेखिका के अपने स्वयं के साथ सम्बन्धों को सीमित और नियंत्रित करते हैं।”

कोई उनके लेखन को ‘स्त्री की मजबूती’ कहता है तो कोई उन्हें बेबाक, यह उनकी कई रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखता है। उनका 1966 का उपन्यास ‘मित्रो मरजानी’ हो जिसमें एक विवाहित महिला की कामुकता की खोज की गई हो या 1991 का उपन्यास ‘ऐ लड़की’ हो जिसमें माँ-बेटी के रिश्ते को करीब से देखा गया हो या उनकी कई लघुकथाएँ जो गाँव की महिलाओं के जीवन के इर्द-गिर्द घूमती हैं और स्त्री के मन की परत-दर-परत खोलती हैं।

कृष्णा सोबती हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उन्होंने समग्र समाज के सम्पूर्ण जीवन को गहन अध्ययन-मनन करके बड़े ही कलात्मक रूप से हमारे सामने प्रस्तुत किया। ‘हशमत’ के चित्र निबन्ध में हम उन्हें बेड़ियाँ तोड़ते भी देख सकते हैं। सन् 1980 में हिन्दी के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार जीतने वाली पहली महिला कृष्णा सोबती ने विभिन्न भाषाई मुहावरों की व्यापक विविधता में लिखकर हिन्दी साहित्य को नया आकाश दिया। □

लोक-साहित्य, किसी समाज की लोक-संस्कृति को प्रवाहमान बनाए रखने का एक सशक्त माध्यम होता है। लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनृत्य और लोकनाट्य, कहावतें और पहेलियाँ आदि इसके अनिवार्य अंग होते हैं। 'जिन्दगीनामा' में उपन्यास की शुरुआत होती है शरद पुण्या की रात से जहाँ सारा गाँव इकट्ठा होता है प्रसाद खाने तथा कथा सुनने। गाँव के बुजुर्ग बड़े लाला, लोक-कथा तथा इतिहास का सुन्दर सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं।



पल्लवी प्रकाश

ई-मेल : pallaviprakash123@gmail.com

‘जिन्दगीनामा’ में लोक-संस्कृति

‘लोक-संस्कृति’ का सामान्य अर्थ हुआ साधारण जनता की संस्कृति जिसका प्रयोग अंग्रेजी के ‘फ़ोकलोर’ शब्द के लिए किया जाता है। प्रत्येक समाज की अपनी एक संस्कृति होती है जिसके अंतर्गत उसके विश्वास, आचार-विचार, मान्यताएँ, परम्पराएँ, धारणाएँ, रीति-रिवाज, खान-पान, पहनावा इत्यादि आते हैं जिनका समाहार ही लोक-संस्कृति की निर्मिति करता है। लोक-संस्कृति को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है जिसमें एक महत्वपूर्ण परिभाषा कृष्णदेव उपाध्याय की है। उनके अनुसार, “लोक-संस्कृति के अंतर्गत जीवन से सम्बन्धित जितने भी आचार-विचार, रहन-सहन, विधि-निषेध, प्रथा-परम्परा, धर्म-कर्म, पूजा-पाठ, खान-पान, वेश-भूषा और मूढाग्रह-अनुष्ठान आदि हैं वे सभी इसके अंतर्गत आते हैं।”

भारत के किसी भी समाज के जीवन को समझने में लोक-संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान है। वैदिक युग से ही इस देश में संस्कृति की दो धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं, एक शिष्ट वर्ग की संस्कृति जो शास्त्रों की ओर उन्मुख रही है तो दूसरी तरफ़ है लोक-संस्कृति, जिसका प्रेरणा-स्रोत लोक रहा है। लोक-संस्कृति की गम्भीर अध्येता सोफ़िया बर्न ने लोक-संस्कृति को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है— (1) लोक विश्वास और अंध परम्पराएँ (2) रीति-रिवाज तथा प्रथाएँ (3) लोक साहित्य। ‘जिन्दगीनामा’ उपन्यास में कृष्णा सोबती ने अविभाजित पंजाब के लोकजीवन और संस्कृति को उसकी समग्रता में चित्रित किया है। लोक-संस्कृति के



अनिवार्य तत्त्व, लोक-विश्वास एवं अंध-परम्पराएँ, रीति-रिवाज तथा प्रथाएँ एवं लोक-साहित्य की प्रभावी उपस्थिति 'जिन्दगीनामा' में देखने को मिलती है।

लोक-विश्वास तथा अंध-परम्पराएँ—विश्वास मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियों में से एक है। विश्वास कोई कोरी कल्पना नहीं बल्कि इसके पीछे भी एक मनोवैज्ञानिक और तार्किक आधार होता है। विश्वास मनोविज्ञान (Faith Psychology) यह मानता है कि कोई भी विश्वास, चाहे लोक-विश्वास हो या अंधविश्वास, वो आधाररहित या तर्करहित नहीं होते। तर्क और बुद्धि से जब किसी समस्या का समाधान नहीं मिलता तब विश्वास ही उस समस्या का निदान प्रस्तुत करता है। मनुष्य के विचार तथा बुद्धि को प्रभावित करने में इस विश्वास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लोक-विश्वासों की विषयवस्तु एवं क्षेत्र अत्यंत व्यापक एवं विशद हैं। लोक-विश्वासों

का जन्म आदिम जीवन के साथ ही माना जा सकता है। आदिम जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य, जो जंगलों में रहता था, हर क्षण प्रकृति, जंगली जीव-जन्तुओं तथा अनजाने शत्रुओं से भयभीत रहता था। इन सबसे अपनी सुरक्षा कर सुख-शान्ति के साथ जीवन व्यतीत करने की उसकी लालसा ने ही उसे जहाँ एक तरफ प्रकृति और देवी-देवताओं की उपासना के लिए प्रेरित किया वहीं दूसरी तरफ लोक-विश्वासों का सहारा लेने को भी अग्रसर किया। लोक-विश्वास अक्षुण्ण होते हैं, समय के साथ इनके स्वरूप में परिवर्तन जरूर आता है लेकिन ये पूर्णतया नष्ट कभी नहीं होते। 'जिन्दगीनामा' में लोक-विश्वास तथा अंध प्रथाएँ कहानी के ताने-बाने में गुँथी हुई दिखती हैं। डेरा जट्ट गाँव के लड़के जब खेल रहे होते हैं तो अचानक ही उन्हें कुएँ से निकल कर अरुढ़ियों पर गायब होने वाला चिट्ठे बालों वाला एक लड़का दिखता है। उसकी रूह

एक बच्चे के ऊपर आती है, “पंघड़े पर सोए सुखनी के पुतर ने खाँस-खाँस कर दूध फेंक दिया। हाथ का बर्तन परे रख जातक को गोद में उठा लिया और पीठ मल-मलकर कहा, “खुरे खाँसी, खुरे, हट, हट...” “...सुखनी ने छाती पर हाथ धर साँस देखा और धाड़ मार दी, “अरी बरन सासड़ी, मेरा लाल तो कोई न!” साथ वाले कोठे से बूढ़ी बडेली जमालो धाई और दहलीज के बाहर खड़ी हो गरजी—
 ‘काली चरी, चार चरी
 काट-काट देही को खाए।’
 ‘हट-हट, दुरे-दुरे।’

जमालो के टोटके का तुरन्त असर होता है और लड़का होश में आ जाता है। जमालो न सिर्फ उसकी सुरक्षा का मन्त्र पढ़ती है बल्कि आगे की सुरक्षा के लिए खेसी के नीचे निम्बू, धरेक के पत्ते और लोहे रखने का उपाय भी बताती है। ऐसा माना जाता है कि लोक-विश्वासों के अनुरूप घटनाएँ प्रायः घट जाती हैं। मन की सहज प्रवृत्ति और संकल्प ही इन लोक-विश्वासों के घटित होने का निमित्त बनती हैं। इसी तरह माँ-बीबी का पति इलाहिया जो उसे छोड़ लार किसी कंजरी के पास चला गया है, को वापस लाने के लिए चाची महरी, बेबे करभरी को बुलाती है। बेबे करभरी टोना उतारती है, “ऊपर आकर पानी की कनाली भरवाई और चाकू से पानी काट दिया—”

‘ईची मीची कोको खाय

कंजरी भड़वी जहन्नुम जाय।’

जादू-टोने और भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास लोकजीवन का अनिवार्य अंग होते हैं। मृतक व्यक्ति कोई सन्देश देने के लिए

ही आते हैं। ‘जिन्दगीनामा’ में ऐसे प्रसंग कई बार आते हैं। शाहनी जब तबेले से बाहर निकलती है तो उसे अपनी मृत सौत की छवि दिखाई देती है, “...एकाएक शाहनी के पाँव ठिठक गए। साकख्यात अंबड़यालवाली। ब्याह का लाल सुब्बर, गोटे वाला जोड़ा और नाक में सोने का लौंगड़ा।

शाहनी ने सर झुकाया और हाथ जोड़ दिए, “पुरखिन, तुम जीने-मरने से परे शाहों के घर की मालकिन। मैं तो चेरी तुम्हारे हुक्म से। शाहनी ने छनभर बाद आँख खोली तो पहले दिखी पीठ अंबड़यालवाली की, फिर बिना पैरों की परछाई वह जा और यह जा।

शाहनी की मृत सौत गौरजा का अस्तित्व कोरी कल्पना नहीं, बल्कि यथार्थ है। वह शाहजी के सपने में भी आती है किसी बात की याद दिलाने, “जब सपने में दिखती है बस यही— शाहजी, मेरा जातक कहाँ है! कुल-वंश में कौन आगे, कौन पीछे!” कहकर हँसती है और ओझल हो जाती है।

जब तक शाहजी निःसंतान हैं, गौरजा कभी उनके सपने में आती है तो कभी शाहनी के सामने साक्षात् प्रकट हो जाती है लेकिन जब शाहनी गर्भवती हो जाती है तो गौरजा फिर किसी को दिखाई नहीं देती। मृत व्यक्तियों की आत्माएँ भी कोई-न-कोई संदेश पहुँचाने के लिए धारा पर आती हैं, इस लोक-विश्वास को कृष्णा सोबती ने ‘जिन्दगीनामा’ में वाणी दी है।

स्वप्न भी लोक-विश्वास के एक अनिवार्य अंग होते हैं। किसी भी भावी घटना के शुभ या अशुभ होने का संकेत भी स्वप्नों के माध्यम से मिलता है, इस लोक-विश्वास

को भी 'जिन्दगीनामा' में सहमति प्रदान की गई है। शाहनी जो निःसंतान है, लालीशाह के जन्म से पूर्व एक स्वप्न देखती है, "शाहनी को पहले तो दीखे दो मिनारे। जगमग-जगमग। फिर दिखा लौ से छिपा हुआ एक सुच्चा आँगन। आँगन में घुटनों चलता एक लुहड़ा बालक ...काली गाय आँख के आगे आई ही थी कि शाहनी की नोंद खुल गई।

रीति-रिवाज तथा प्रथाएँ लोक-संस्कृति का अनिवार्य हिस्सा होती हैं। त्योहारों के माध्यम से सामूहिकता की भावना का विकास होता है। 'जिन्दगीनामा' में पंजाब के लोकजीवन और त्योहारों का अत्यंत सजीव चित्रण मिलता है। 'त्रिंजन' के अवसर पर गाँव की कुँआरी लड़कियाँ मिल-जुलकर चरखा कातती हैं, गीत गाती हैं और हँसती-बोलती हैं। इसी दौरान औरतों की आपसी छेड़-छाड़ भी जारी रहती है। इसके साथ ही खाने-पीने का क्रम भी चलता रहता है। गुड़ की पिन्नियाँ, सीलम के मरुँडे, शिरनी के थाल और दूध के छन्ने आदि पारम्परिक व्यंजन प्रस्तुत किए जाते हैं। सर्दी के मौसम में आधी रात तक औरतों का यह त्योहार चलता रहता है। इसी तरह लोहड़ी के अवसर पर पूरा गाँव एक साथ बैठकर उपलों को जलाकर आग सेकता है। लोहड़ी से पहले गाँव के बच्चे उन सभी घरों से लोहड़ी माँगने जाते हैं जिनमें किसी छोटे बच्चे का जन्म हुआ हो और गाते हैं—

‘आएगी भई आएगी

इस घर लोहड़ी आएगी

आने वाली लोहड़ी पर

शानो की माँ गोदी में

बच्चड़ा खिलाएगी।’

लोहड़ी के बाद बैसाखी के त्योहार का भी वर्णन मिलता है जब खेतों की फसलें पक जाती हैं तथा किसानों द्वारा उन्हें बेचकर खुशी मनाने का माहौल होता है। गाँव में बैसाखी के मेले लगते हैं, हँसना, गाना-बजाना चलता रहता है। बैसाखी के अवसर पर शाहजी पूरे गाँव को दावत देते हैं जिसमें खाँड-चावल खिलाया जाता है। ईद के अवसर पर गाँव में सेवइयाँ बाँटी जाती हैं तो नवरात्र के अवसर पर घर-घर में जौ और कनक की खेती बोई जाती है। रीति-रिवाजों में से कई ऐसे हैं जो हिन्दुओं और मुस्लिमों में बराबर रूप में पाए जाते हैं। कई बार धर्म परिवर्तन के बावजूद भी नए धर्मावलम्बी पुरानी धार्मिक परम्पराओं से स्वयं को विलग नहीं कर पाते। चाची महरी बताती है कि मक्खड़ लोग दीन क़बूलने के बाद भी अपने शादी-ब्याह में लाँवा-फेरे और खारा बिठाई की रस्म करते हैं तथा इनके ढंग-कारजों में क़ाज़ी और ब्राह्मण दोनों ही मौजूद रहते हैं। ईश्वर की एकरूपता को मानने का विश्वास डेरा जट्ट गाँव के लोगों में कहीं गहरे तक व्याप्त है। लखनदाता सखी-सरवर का दरबार एक ऐसा ही धार्मिक स्थल है जहाँ हिन्दू, मुस्लिम और सिक्ख, इन तीनों ही सम्प्रदायों के लोगों के पूजास्थल मौजूद हैं। “बहुत बड़ी ज़ियारतगाह है! एक तरफ़ ग़रीबनवाज़ सरवरशाह का थान। दूसरी तरफ़ बाबा नानक का। ...लो, और सुनो। पास ही एक ठाकुरद्वारा है। एक तरफ़ अपने भैरों का मन्दिर है।” जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कारों को पूरा करने के लिए लोक में अनेक प्रकार के नियम और अनुष्ठान बने हुए हैं। संतान-प्राप्ति के लिए पीरों-फ़कीरों की मन्त

माँगना, उनकी दरगाह पर जाना भी लोक में व्याप्त प्रथाओं का जीवंत उदाहरण है। चाची महरी को साथ ले शाहनी, बाबा फ़रीद की दरगाह पर पुत्र-प्राप्ति की मन्त को जाती है। शाहजी के यहाँ पुत्र जन्म पर नाते-रिश्तेदारों और नौकरों-चाकरों को नेग बाँटी जाती है।

शाहजी के पुत्र लालीशाह की पहली दीवाली पर सारे गाँव में मिठाइयाँ बाँटी जाती हैं। पहली बार मदरसे जाते वक़्त लालीशाह भिक्षा का पात्र लेकर सात घरों से भिक्षा माँगने जाता है। लोकजीवन में विवाह एक महत्वपूर्ण संस्कार है। 'ज़िन्दगीनामा' में इस संस्कार के तरह-तरह के वर्णन मिलते हैं। लड़की का ब्याह तय होने पर सात सुहागिनें उसे आकर उबटन लगाती हैं। बारातियों का स्वागत भी एक महत्वपूर्ण लोक-परम्परा है जिसका वर्णन उपन्यास में मिलता है, "बारातियों के लिए हुक्के भर दिए गए। मौँजियों पर बाराती ऐसे पसरे ज्यों कोई शाही डेरा हो।"

लोक-साहित्य, किसी समाज की लोक-संस्कृति को प्रवाहमान बनाए रखने का एक सशक्त माध्यम होता है। लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनृत्य और लोकनाट्य, कहावतें और पहेलियाँ आदि इसके अनिवार्य अंग होते हैं। 'ज़िन्दगीनामा' में उपन्यास की शुरुआत होती है शरद पुण्या की रात से जहाँ सारा गाँव इकठ्ठा होता है प्रसाद खाने तथा कथा सुनने। गाँव के बुजुर्ग बड़े लाला, लोक-कथा तथा इतिहास का सुन्दर सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं। कहानी का केन्द्रबिंदु है सृष्टि की उत्पत्ति, "हर वंदा अपने पिता का अवतार है। याद रखो। अवतार वह जिसके दो हाथ हैं।

अवतार वह जिसके दो पाँव हैं।" बड़े लाला द्वारा सुनाई गई सृष्टि की कहानी वस्तुतः लोक और शास्त्र के बीच की आवाजाही को दर्शाता है। जया परांजपे के अनुसार, "...हमारे यहाँ लोक और शास्त्र में निरंतर संवाद की स्थिति भी रही है। जो शास्त्रीय है वह कभी कालान्तर में लोक प्रचलित बन जाता है तो कभी जो लोक है वही रूप बदल कर शास्त्र में स्थान पा जाता है।"

लोकजीवन में तीज-त्योहारों और विवाह आदि के अवसर पर गाए जाने वाले लोकगीतों का विशेष महत्व होता है जब अपने दुःख को कुछ समय के लिए भूलकर लोग जीवन का आनंद उठाने का प्रयास करते हैं। त्रिनजन के अवसर पर सूत काटने के साथ ही गायी जाती है हीर, घोड़ी और ठुमरी ठप्पे-

‘डोली चढ़दया मारियाँ हीर चीकाँ
पंज रोज़ तेरे घर रहे चले वे।’

शाहजी के यहाँ पुत्र के जन्म पर घोड़ी गायी जाती है—

‘हरिया री माए हरिया री बहनो
हरिया ओ भागी भरया।’

इसी प्रकार, लड़की के विवाह के अवसर पर गाँव की औरतें सुहाग के गीत गाती हैं—

‘आले दवाले मेरी गुड़ियाँ
मै नू नहीं खेलन दा चाव रे।’

अंततः यह कहा जा सकता है कि 'ज़िन्दगीनामा' में लोक-संस्कृति के सजीव चित्रण के द्वारा कृष्णा सोबती ने मानवीय मूल्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जाहिर की है।





‘वह समय यह समय’
के सन्दर्भ में

‘वह समय यह समय’ उपन्यास पर लिखे गए प्रस्तुत लेख में शामिल राबयाँ और शाहजी के लगन की कहानी की जड़ें ‘जिन्दगीनामा’ उपन्यास की ज़मीन से निकलकर ‘वह समय यह समय’ उपन्यास तक पहुँचती हैं, इसीलिए इस लेख में ‘जिन्दगीनामा’ का हवाला देना भी ज़रूरी जान पड़ता है, तभी ‘जिन्दगीनामा’ उपन्यास के कथ्य में पैदा हुई इस अनोखी प्रेम-कहानी की मुकम्मल तस्वीर पाठकों के सामने सटीक रूप में प्रस्तुत हो सकेगी और इसीलिए ही स्वयं कृष्णा सोबती ने भी इस कहानी की तस्वीर को साफ़ करने के लिए ‘वह समय यह समय’ के लिए लिख दिया था, “इस पाठ का पुराना सन्दर्भ देने के लिए आपको, आपकी मूल्यवान पाठकीय स्मृति की ओर लौटा रही हूँ। ‘जिन्दगीनामा’ के खुरदुरे मोटे-गाढ़े माहौल में धूप-सी गरमाहटवाली राबयाँ एक लागव की लौ, शब्दों से पंक्तियाँ पिरोती हुई, तुकें मिलाती हुई।”



विपिन चौधरी

ई-मेल : choudharyvipin131@gmail.com

उस ‘लौ’ के सिरहाने

“मनुष्य के मन को किसने बाँधा है। जिधर बह गया, बहने लगा।”
-कृष्णा सोबती

हिन्दी साहित्य की मूर्धन्य कथाकार कृष्णा सोबती का रचना-संसार अपने समकालीनों से कहीं अलग दिखाई देता है। उनके लेखन का अंदाज़-ए-बयाँ अपनी अलग विशिष्टता के लिए हिन्दी साहित्य में अलग से चिन्हित किया जाता रहेगा। शान्त मगर किल्लोल करती लहरों जैसा उनका लेखन जिसका धरातल लोक की संयमित अभिव्यक्ति को साफ़-सुथरी रचनात्मकता के साथ बुना गया है। कृष्णा सोबती के लेखन में कथा शिल्प की असीम गहराई, भाषा का घनत्व, जीवंत सजलता के साथ-साथ सर्वसाधारण लोक की उजास है जो उनके लेखन की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में नज़र आती है।

कृष्णा सोबती का कालजयी उपन्यास ‘जिन्दगीनामा’ 1979 में प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तकालय संस्करण ने अपने अद्भुत कथ्य, अनोखे शिल्प और नई भाषा के ज़रिए जो प्रतिमान रचे थे, उनकी बराबरी कोई दूसरा उपन्यास आज तक नहीं कर सका है। इस नायाब कृति को अगले ही साल यानी वर्ष 1980 का साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला।

गौरतलब है कि किसी महत्वपूर्ण कृति के टेक्स्ट के सन्दर्भों की व्यापक विवेचना न केवल उसमें दर्ज काल-विशेष में पात्रों की जीवन-परिस्थितियों के ज़रिए उस समय के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक बदलावों की गतिशीलता, स्थापित मूल्यों के विघटन का पता देती है बल्कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह कृति नए विमर्शों को भी सामने लाती है। ‘जिन्दगीनामा’ ऐसी ही एक कृति के रूप

में पाठकों के समक्ष है।

विभाजन के मुहाने पर खड़े गुजरात, पंजाब की पृष्ठभूमि को केन्द्र में रखकर रचा गया यह उपन्यास अपने विशाल फलक के चलते और इसके अद्भुत गठन के कारण पाठकों को चमत्कृत करता आया है। उपन्यास में गिनती के चरित्र न होकर ऐसे अनेक जन शामिल हैं जिनकी जीवन परिस्थितियों में आज के इस अतिआधुनिक समय में ज्यादा हेर-फेर नहीं हुआ है। इस उपन्यास के वृहद रचनात्मक स्पेस का अन्वेषण करते हुए ब्रिटिश राज में भारतीय परम्पराओं का रचाव, गुलाम भारत के सांस्कृतिक सरोकार व स्त्री एवं वंचित समाज के अस्तित्व से जुड़े हुए ढेरों विषयों से सम्बन्धित प्रश्नों के जवाब भी बखूबी मिलते हैं।

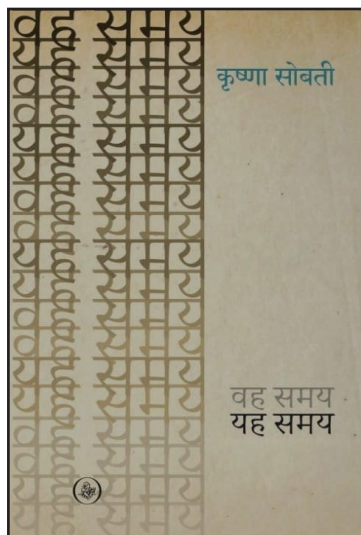
बीसवीं शताब्दी के पंजाबी परिवारों और किसानों के जीवन को उकेरने वाले इस वृहद उपन्यास के पाठकों को इस उपन्यास की असाधारण साधारणताओं के बीच एक शान्त 'लौ' की ज़रूर याद होगी जो शाह की हवेली के भीतर जल रही थी जिसकी जड़ में शाहों की हवेली के मालिक खुद शाहजी और अराइयों की लड़की राबयाँ थी।

यह कहानी एक हवेली में जन्म लेती है जो शाहजी की हवेली है, जिसकी ऊपरी

मंजिल पर स्त्रियों का भरा-पूरा संसार रचा-बसा है। नीचे हवेली में होने वाली पुरुषों की सभा की गतिविधियों को वे सब ऊपर से ही देख पाती हैं। शाहनी व अन्य स्त्रियों को पुरुषों की महफ़िल में किसी हस्तक्षेप करने की कभी ज़रूरत ही नहीं पड़ी। उनका संसार तो काफ़ियाँ, दोहड़ों, अठवारा, गँठा, सीहरफ़ीहा के बोलों, अपने दुःखों-सुखों की बातों, हार-सिंगार करने और रिश्तेदारियाँ निभाने से ही आबाद है। इन स्त्रियों के पास आस्था, पर्व-

उत्सव का ऐसा भरा-पूरा संसार है जिसमें डूबे रहने में ही उन्हें आनंद आता है। ये सभी विवाहित स्त्रियाँ त्योहार के दिनों में सामूहिक रूप से चरखा कातने के लिए, लोहड़ी के अवसर पर गीत-नृत्य के लिए गाँव की लड़कियाँ हवेली में एकत्रित होकर हीर, वारिस शाह, बाबा फ़रीद, शाह लतीफ़ की रचनाओं को सुनती-गाती हैं।

इन्हीं स्त्रियों और लड़कियों के बीच एक हँसती-गाती मगर भीतर से शान्त रहने वाली लड़की राबयाँ भी है जो अक्सर शाहनी के बालों पर तेल मलने, शब्ब-अरदास करने और शाहनी के बेटे लाली को खेलने-खिलाने हवेली में आती-जाती है। मधुर कंठ से सुर उठाती राबयाँ का जिस घड़ी बड़े शाहजी से सामना होता है वह घड़ी वहीं ठहरकर राबयाँ के मन-भीतर अपने लम्बे पाँव पसार लेती है।



राबयों के उस सम्मोहित मन की प्रतिछाया शाहजी पर भी पड़े बिना नहीं रहती।

जब राबयों के पिता उसकी शादी की बात शाह-भाइयों के सामने करते हैं तब राबयों शाहजी और उनके छोटे भाई काशीराम के सामने अपने मन की लगन को उजागर करने के लिए बाध्य होती है।

“शाह साहब, मैंने आपको दिल में ऐसे धार लिया जैसे भगत मुरीद अपने साईं को धार लेते हैं।”

‘जिन्दगीनामा’ को पढ़ते हुए राबयों का यह पात्र एक मासूम मन का प्रेम दिखाई पड़ता है जिसमें एक मासूम कन्या एक ऐसे परिपक्व व्यक्ति के प्रति सहज लगाव रखती है। गाँव में जिसकी छवि एक ऐसे विराट पुरुष की है जो गाँवभर की समस्याओं के हल करने में हरदम तैयार रहता है। जिसमें एक रूप में वे राबयों के परिवार की भी मदद करते हैं जब उसकी युवा बहन फ़तेह अपने प्रेमी के साथ घर से गायब हो जाती है। शाहजी फ़तेह की खोजबीन के दौरान अपने साथ एक मौलवी को भी ले जाते हैं और उसकी शादी कर देते हैं। इस तरह राबयों का परिवार जगहँसाई से बच जाता है...

बतौर लेखक कृष्णा सोबती इस शान्त प्रेम कहानी की ‘लौ’ को अपने भीतर सहेजे रखती हैं और बरसों बाद उसे पन्नों पर उतारती गईं और ‘जिन्दगीनामा’ उपन्यास के इस असंभव से लगने वाले प्रेम को संभव बनाते हुए इसे लिखना जारी रखा मगर यह विडम्बना ही थी कि उनके जीतेजी इस कहानी को जिल्द नसीब नहीं हो सकी।

x x x

कृष्णा सोबती की मृत्यु के बाद 2024 में इसे ‘जिन्दगीनामा’ के दूसरे भाग के रूप में एक लम्बी कहानी या लघु उपन्यास के तौर पर ‘वह समय यह समय’ के नाम से प्रकाशित किया गया।

‘वह समय’ कृष्णाजी ने इस टुकड़े को यही नाम दिया था। उन्होंने इसे लिख दिया था क्योंकि यही उनके मस्तिष्क में पहले कौंधा। अक्सर वे उपन्यास के अलग-अलग हिस्सों को ऐसे ही लिखती थीं, कि जो प्रकरण मन में पहले मूर्त हो गया, उसे लिख दिया। यह संयोग ही हुआ कि अपने-आप में भी इसे एक लम्बी कहानी या लघु उपन्यास की तरह पढ़ा जा सकता है।

कई साल पहले ‘हंस’ में इसको देते समय उन्होंने खुद इसका परिचय इन शब्दों में दिया था—

दो चित्त। दो चितवनें। कहीं कुछ बराबर नहीं, जाति, धर्म, मज़हब, कुल, गोत्र, उग्र, वर्ग। राबया लड़की एक ताज़ी मदमदाती कँवार और शाहजी लाली जैसे पुत्र के पिता, ग्रहस्थ। कैसे निभेगी यह प्रीति, यह प्यार।
(कवि आर. चेतन क्रान्ति की फ़ेसबुक वाल से उद्धृत)

किसी भी असंभव से रिश्ते को अक्सर कहीं-न-कहीं ईश्वर के साथ ठीक वैसे ही जोड़ दिया जाता है। जैसे सभी अनसुलझे अचरज देर-सवेर ईश्वर के खाते में चले जाते हैं। वैसे ही इस अनोखे रिश्ते को भी यही गति मिलती, अगर यह कहानी नए कलेवर में पाठकों के सामने न आती।

इस कहानी में एक सीध में चलते-चलते शाहजी और राबयों बहुत आगे निकल जाते हैं और कहीं पीछे रह जाते हैं बिरादरी धर्म

संस्कार, राबयाँ का कच्चा कोठा और शाहजी की ऊँची हवेली, शाहजी का भाई काशी शाह उनकी पत्नी और शाह का एकलौता पुत्र लाली शाह और हवेली की मालकिन शाहनी।

भारी देह वाले उम्रदराज शाहजी और माथे पर पड़ते बालों की सुनहरी घूँघर वाली युवा लड़की राबयाँ, कविता लिखने वाली राबयाँ, कविता सिखाने वाले शाह के बीच की यह संगत अनोखी थी। बड़ी मासूम और दिलफ़रेब थी यह जिसमें एक जन कविता कहता और दूसरा जन कविता सुनता, राबी बुल्ले शाह गाती और शाहजी आँखें बंदकर उन बोलों को अपने भीतर उतारते।

इसी कहते-सुनते रहने की संगत थी बस यह, एक न्यारी-सी दिव्य-सी संगत। शाहजी की शफ़ा राबयाँ के पास था, राबयाँ की शफ़ा शाहजी के पास।

दोनों अलग-अलग दिशाओं में जाती हुई ये दो राहें जिन्हें रब ने एक होने में मदद की। उनके प्रेम का मान रखा क्योंकि दुनिया की नज़र में यह रिश्ता भले ही गुनाह का रिश्ता था मगर ईश्वर की नज़र में प्रेम किसी गुनाह की श्रेणी में शामिल नहीं था।

थोड़ा-थोड़ा मुस्कुराने वाली राबयाँ बुल्लेशाह गाती थी-

‘मैं सूरज अगन जलाऊँगी

मैं प्यारा यार मनाऊँगी

सात समुन्दर दिल के अंदर

मैं प्यार यार मनाऊँगी

मैं बादल हो-हो जाऊँगी

मैं भर-भर में बरसाऊँगी

न मैं ब्याही न मैं काँवरी।’

कृष्णा सोबती की अनोखी बोली, भाषा,

अनोखा शब्द-भंडार इस प्रेम कहानी को उस पार ले जाता है जहाँ दुनियादारी की दूसरी सारी चीज़ें फीकी पड़ जाती हैं। एक-दूसरे के हृदय की रोशनी में आमने-सामने के दो चेहरे जो एक-दूसरे को अपलक देखते जाते हैं तब समय उन दोनों के बीच से बिना कोई हरकत किए गुज़र जाता है।

जल-थल के तूफ़ानी प्रलय में शाहजी का घोड़ा गुलखेर लड़खड़ा कर गिर पड़ा। अपनी कच्ची मुँडेर पर खड़ी राबयाँ ने उन ऊँची उठती लहरों के बीच शाहजी के साफ़े को देखा और वह भागती हुई आई और शाह जी को बचाने के लिए उफनते हुए पानी में कूद गई। दोनों को बचा तो लिया गया मगर दोनों गंभीर रूप से घायल हो चुके थे।

बिस्तर पर पड़े शाहजी पूछते हैं-

“ऐसा क्यों किया राबी?”

राबयाँ जवाब देती है,

“ मेरी जिन्द आप में अटकी पड़ी थी शाह साहिब। वह अलग नहीं।”

तब,

“शाहजी पीली चमकीली आँखों से भाई को कई पल निहारते रहे, फिर फ़ैसला देने के अंदाज़ में कहा, “ कुछ करना होगा हमें। काशी, उस लड़की के सिवाय मुझे अब कुछ और नहीं दीख रहा, वह मुझे प्रलय से खींच लाई है।”

“काशी, सही-ग़लत का अब कुछ नहीं भास रहा। मेरे लिए अब दोनों बराबर हैं। इतना ही काशी कि राबयाँ को इस घर की ओट देनी होगी। वह अब इस घर की है... घर में रहेगी।”

घायल राबयाँ को अपने पिता आलिया के घर से हवेली लाया गया ताकि हकीम दोनों

की एक साथ देख-रेख कर सके।

मगर इस बार हवेली आने पर राबयों उदास थी, मानो किसी अनहोनी की खबर उसे पहले ही लग गई हो।

राबयों को सहारा दे छोटे शाह और जहाँदाद खहनजी ने पौड़ियों पर चढ़ाया तो राबी के दिल में जाने कैसी तीतरपंखी उदासी घिर आई, जैसे आसमान में पंख ही न हो। पंख हो और उड़ान फड़फड़ा जाए।

कैसी नेक बरकतें होती हैं दो दिलों के बीच की कि एक बेरोक-टोक 'लौ' एक-दूसरे के भीतर आती-जाती रहती है।

पहले-पहल शाहजी और राबयों के भीतर धधकने वाली इस 'लौ' की भनक अगर किसी तीसरे इंसान को लगी थी तो वह थी हवेली की मालकिन शाहनी।

"पसार में जा लकड़ी की पेटी खोली तो लड़की के लिए शाहजी की तारीफ़ सुन अपने जियरे को घुड़क दिया, मुड़ री, इस छोटी-सी कंजक से द्वैत कैसा!"

शाहनी की उदास नम आँखों ने जैसे शाहजी के चक्षुओं में राबयों की छवि देख ली थी और एकबारगी उसे ऐसा लगा जैसे वह एकदम से हवेली के बाहर हो गई है। इसी सोच में वह जड़ हो गई थी।

उधर शाहजी ने अपने अंतिम समय में राबयों के उस मासूम चित्त को समझा जो उन्हें बचाने की खातिर अपनी जान की परवाह न करके पानी की चक्रव्यूह में कूद पड़ी थी। शाहजी मृतशैय्या से उसे हवेली में जगह दे गए। बेसुध राबयों को लाया गया ओढ़नी उढ़ाकर शाहजी की हवेली में। अब राबयों न ब्याही न अनब्याही।

फिर जैसे सब कुछ विधि के विधान सा तयशुदा घटित होता रहा।

शाहजी के बिना कहे शाहनी ने सुना जैसे उसके कान में उसका धनी कह रहा हो, "हम दोनों के लिए तुम ही अब इस घर की छाँह हो शाहनी।"

और शाहजी का छोटा भाई काशी भी समझ गया शाहजी के बिना कहे उसने भी अपनी भरजाई से कहा

"राबयों की नाक में कुछ डाल दो।"

घायल शाहजी सबसे दूर चले गए। शाहजी के मरने के बाद शाहनी का मन पलट गया और वह भूल गई अपने पति के मुलायम मन को, अरदास को। तब शाहनी को उस गुमसुम अनब्याही लड़की राबयों के हाथों में सोने के वे कँगन खटकने लगे जिसे उसने खुद शाहजी के कहने पर पहनाए थे।

कुछ ही दिनों के बाद शाहजी के मरने के सदमे को बर्दाश्त न करने के कारण सुन्न पड़ी राबी भी उनके पीछे-पीछे चली गई।

शाहों के घर की ओढ़नी और सोने के दो कँगन उतार चनाब की लहरों में उतर गई और जाते-जाते पीछे रहने वालों की चिन्ताओं को खत्म कर गई और गाँववालों को छोड़ गई, उसके और शाहजी को लेकर क्रिस्से-कहानियाँ गढ़ने के लिए।

ऐसे साफ़ और सच्चे लोग जो उस 'लौ' को बचाए रखने में सफल होते हैं, देर तक याद रखे जाने का सबब बनते हैं। हृदयों में अपनी जगह बनाते हैं। वे कहीं नहीं जाते। कहीं नहीं जाती कृष्णा सोबती जैसी नायाब कथाकार, वे अपने पाठकों के साथ निरंतर बातचीत में रहते हैं। कहीं नहीं जाते शाह जी, कहीं नहीं जाती राबयों, वे लौ बन जाते हैं, उनके भीतर जो इस 'लौ' की आँच को सम्भालने का अदब जानते हैं। □



हम हशमत यानी कृष्णा सोबती की बातचीत की शैली इतनी मोहक और दिलकश होती थी कि कोई भी व्यक्ति जिसके अंदर ज़रा भी अदब की तालीम हो वो बरबस सम्मोहित होकर उन्हें सुनने लगता था। वह एक उफनती हुई नदी की तरह अपनी तक्ररीरों में उतार-चढ़ाव के साथ प्रस्तुत होती थीं। अपने बोलने के अंदाज़ की तरह ही वह अपने गद्य लेखन में भी नमूदार होती हैं। उनकी कहने की शैली अफ़सानों से भरी हुई है। शायद इसीलिए उनके गद्य में पठनीयता का तत्त्व समान स्तर पर मौजूद है। जिन लोगों की उनसे लगातार आमदरफ़्त रही है, वे अनुभव कर सकते हैं कि उनके बोलने और लिखने में कोई फ़र्क़ नहीं था। हर सिद्ध और बड़े लेखक की यही पहचान होती है।



अरविंद त्रिपाठी

ई-मेल : arvindkumartripathi1234@gmail.com

औपचारिकता और ऊपरी आधुनिकता से कोसों दूर

साहित्य और जीवन की खोज के अपने बेरोज़गार दिनों में, सन् पचासी के शुरू-शुरू में जब मैं दिल्ली पहुँचा तो वहाँ पुरानी पीढ़ी के लेखकों की एक समृद्ध दुनिया मौजूद थी। उस दौर में श्रीकांत वर्मा के आमंत्रण पर मैं दिल्ली पहुँचा था।

दिल्ली मेरे जैसे अदने ग्रामीण पृष्ठभूमि के युवक के लिए एक करिश्माई शहर था। देश की राजधानी तो थी ही, वह मेरे लिए एक महासागर की तरह थी। उसी दौर में श्रीकांतजी के सान्निध्य में रहते हुए मेरा बड़े-बड़े लेखकों से सीधा सम्पर्क हुआ। अज्ञेय, जैनेन्द्र, निर्मल वर्मा, नेमिचन्द्र जैन, भीष्म साहनी के अलावा नामवर सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, नित्यानंद तिवारी, निर्मला जैन जैसे अनेक लेखकों से मुलाकातें, बातें, मेलजोल और सहकार लगातार बने रहे। मैं एक फ़्रीलांसर की हैसियत से अपने को आजमा रहा था।

सन् छियासी की मई में श्रीकांतजी की अचानक मौत के बाद दिल्ली मुझे वीरान लगने लगी। इस वीरानी में महिला कथाकारों में कृष्णा सोबती ने अपने बात-व्यवहार और विचार से मुझे सबसे ज़्यादा आकृष्ट किया। उनकी रचना से आकर्षण विद्यार्थी जीवन से ही हो चुका था। उनके व्यक्तित्व से रूबरू बाद में हुआ। दिल्ली की लगभग सभी पत्र-पत्रिकाओं, अखबारों के साप्ताहिक



साहित्य अकादमी सभागार में आयोजित देवीशंकर अवस्थी
सम्मान समारोह 5 अप्रैल, 2005
(दाएँ से : कृष्णा सोबती और देवीशंकर अवस्थी सम्मान से
विभूषित अरविंद त्रिपाठी)

पृष्ठों में लगातार लिखना जारी था। कृष्णाजी से पहली भेंट उसी दौरान हुई थी और संक्षिप्त परिचय भी। उन्होंने मेरी कुछ कविताएँ और प्रकाशित होने वाले लेख पढ़ रखे थे। पहली ही मुलाकात में उन्होंने बड़े ही दिलकश अंदाज़ में कहा कि “मैंने आपको पढ़ रखा है”। जाहिर है उनका यह कहना मेरे जैसे युवा लेखक के लिए एक बड़ा प्रोत्साहन था। उनसे पहली विधिवत् मुलाकात सन् छियासी में बंगाली मार्केट के रेस्तराँ में हुई थी। मुलाकात के क्रम में उन्होंने मुझसे फ़ोन पर कहा था कि मुझे श्रीकांतजी के बारे कुछ आपसे बातें करनी हैं। आइए, बंगाली मार्केट आपसे बातें होंगी और साथ में कुछ खाए-पिएँगे। शाम के वक़्त जो समय तय था अपनी पुरबिया आदत के मुताबिक़ मैं लगभग पौन घंटे देर से पहुँचा। मैंने जाते ही उन्हें दूर से ही पहचान लिया। उनकी वेशभूषा अलहदा थी। सर से पाँव तक ढकी हुई,

गोरे चेहरे वाली गोलमटोल एक औसत स्त्री का क़द, उनके काले लिबास के साथ, मोटे फ्रेम का काला चश्मा आँखों पर हमेशा चढ़ा रहता था। वह बड़ी बेतकल्लुफ़ स्त्री थीं। औपचारिकताओं और ऊपरी आधुनिकता से कोसों दूर। उस पहली मुलाकात में देरी से आने के लिए जब मैंने क्षमायाचना की तो उन्होंने पंजाबी लहजे में कहा, “ऐसे है— अरविंद ऐसी कोई बात नहीं, दिल्ली में इतने वर्षों तक रहने के बाद जब दिल्ली मेरी नहीं हो सकी

है तो आप अभी-अभी यहाँ दाखिल हुए हैं। दिल्ली में आना-जाना काफ़ी मुश्किल काम है”। पहली मुलाकात डेढ़ घंटे चली। उन्होंने गहरे इसरार के साथ केले के पत्ते पर डोसा, मिठाई और कॉफ़ी के साथ मेरा स्वागत किया। उन्होंने मुझसे मेरे घर, परिवार, गाँव, क़स्बा और गोरखपुर की ख़ासियत के बारे में देर तक बातें की। वे उन दिनों ‘हम हशमत’ की सीरीज़ में अनेक लेखकों पर संस्मरण लिख चुकी थीं, जो ख़ासे चर्चित हुए थे। उन्होंने बताया कि श्रीकांतजी पर उस सीरीज़ में मैं कुछ लिखना चाहती हूँ। वे उनकी कविताओं, कहानियों के बारे में तफ़सील से मेरी राय जानना चाहती थीं। श्रीकांतजी के लेखन पर मेरी एक पुस्तक ‘शताब्दी, मनुष्य और नियति’ जो लघु शोध प्रबन्ध था, आई थी। वे मुझसे जानना चाहती थीं कि नई कविता के दौर में श्रीकांत वर्मा की कविता की क्या भूमिका और महत्व है? अपनी

समझ के मुताबिक मैंने उनकी कविता की खूबियों और खामियों का विस्तार से जिक्र किया। मैंने उनसे कहा कि श्रीकांत वर्मा को आज़ादी से उपजे मोहभंग का कवि माना जाता है लेकिन 'माया दर्पण', 'दिनारंभ', 'जलसाघर' काव्य-संग्रह की कविताएँ आज़ादी के बाद पैदा हुईं नई पीढ़ी के यथार्थ बोध की अभिव्यक्ति हैं। उस दौरान मैंने श्रीकांतजी की बहुचर्चित काव्यपंक्ति 'बरस रहा है मेघ/ मगर उल्लू के पट्टे/ स्त्रियाँ रिझाऊँ कविताएँ लिख रहे हैं' याकि 'जो मुझसे नहीं हो सका वह मेरा संसार नहीं' जैसी कविताओं का हवाला देते हुए श्रीकांत की कविता की तल्लीन, बेचैनी और एक चढ़े हुए तापमान की कविता का जिक्र किया। मैंने 'मगध' का भी जिक्र किया जो मूलतः सत्ता की निस्सारता और विफलता की कविता है, जो उन्हें काफ़ी पसन्द आया था। चलते वक़्त उन्होंने उस पहली ही मुलाकात में दिल्ली की अंधेरी शाम में विदा होते हुए मुझसे कहा, "अरविंद फिर मिलेंगे। हो सके तो कभी घर आइए।" दुर्भाग्यवश मैं लम्बे समय तक उनके घर नहीं जा सका पर दिल्ली के आयोजनों में अक्सर उनसे मुलाकातें—बातें होती रहीं।

उनकी तक्रारों की यह खासियत ही कही जाएगी कि वे 'हशमत' सीरीज़ में संस्मरण लिखते वक़्त लेखक के व्यक्तित्व और उसके रचना कर्म पर बड़ी बेबाकी से अपनी बात कहती थीं। उन्होंने श्रीकांत का मूल्यांकन करते हुए उनकी राजनीति की भी चर्चा की थी जो श्रीकांत के लेखकीय

व्यक्तित्व की फाँक को समझने के लिए एक ज़रूरी मूल्यांकन है। उनके गद्य की यह खूबी ही कही जाएगी कि वे गद्य को कथा रस से सराबोर करती हुई बड़े बेधक अंदाज़ में लेखकों के अंतः और बाह्य व्यक्तित्व का बेबाक मूल्यांकन करती हैं। ऐसी बेबाकी हिन्दी के कम लेखकों के पास पाई जाती है। खास तौर से महिला कथाकारों में इस तरह का बेधक, पारदर्शी और दो टूक गद्य का लहजा हिन्दी के आधुनिक साहित्य में किसी लेखिका में नहीं दिखाई देता।

हम हशमत यानी कृष्णा सोबती की बातचीत की शैली इतनी मोहक और दिलकश होती थी कि कोई भी व्यक्ति जिसके अंदर ज़रा भी अदब की तालीम हो वो बरबस सम्मोहित होकर उन्हें सुनने लगता था। वह एक उफनती हुई नदी की तरह अपनी तक्रारों में उतार-चढ़ाव के साथ प्रस्तुत होती थीं। अपने बोलने के अंदाज़ की तरह ही वह अपने गद्य लेखन में भी नमूदार होती हैं। उनकी कहने की शैली अफ़सानों से भरी हुई है। शायद इसीलिए उनके गद्य में पठनीयता का तत्त्व समान स्तर पर मौजूद है। जिन लोगों की उनसे लगातार आमदराफ़्त रही है, वे अनुभव कर सकते हैं कि उनके बोलने और लिखने में कोई फ़र्क़ नहीं था। हर सिद्ध और बड़े लेखक की यही पहचान होती है। जिस तरह बोले उसी तरह लिखे। श्रीकांत वर्मा के युवा दिनों की ही शिनाख़्त करते हुए हशमत जो लिखती हैं उसमें बतकही और लिखे का स्वरूप एक समान स्तर पर पाठक पर प्रभाव छोड़ता है— "श्रीकांत पर उन दिनों

अंदर के शोर का-सा सन्नाटा छाया रहता। चेहरा कभी खुश, कभी अवाक् लगता, जैसे कोई बाहर की दुनिया से बेखबर किसी टीले पर चढ़ने की जल्दी में है। अंतरंगता का झिलमिलाता एक अपना ही ग्राफ़। ऊपर-नीचे सिमटता, फैलता। वह अक्सर सफ़ेद में दिखते। बाल ढीले। कुछ चिकने। चेहरे पर कसाव। मुस्कान अनोखी। श्रीकांत अपने कपड़ों के ढंग-बर्ताव में ताज़े-ताज़े देहलवीपन की झलक देते।” इस पैरे में आगे उन दिनों श्रीकांत के साथ ‘कृति’ में बतौर सहायक सम्पादक के रूप में कार्य कर चुकी कांता पिप्ती की एक विफल प्रेम कविता का हवाला दर्ज किया है—

‘पूरा होने के बाद
अधूरा और बढ़ गया
आ : यह समय को थाम
आज

सचमुच सूना है आकाश
सहेज सकी नहीं सुख, सुख गंध और
माँगती रही

अब दे गया है दर्द
मेरा वही अतिरेक
हँस सकने की सीमा तक।’

हशमत की आगे की टिप्पणी में श्रीकांत के टूटे दिल की मनोदशा देखिए—
“कहाँ गया वह वक्रत! क्यों छिटका, क्यों उजड़ा—क्यों पीठ दी—हमें कुछ मालूम नहीं। एक शाम निरूला के सामने वाले कॉर्नर पर सफ़ेद लिबास में वह ऐसे मुड़ीं जैसे नियति का फ़ैसला हो। कदमों पर दबाव दे सड़क पार की और श्रीकांत सिर्फ़ तकते रहे। तकते

रह गए। हम ओडियन में शो के बाद लाबोहैम की ओर चले आए थे। देखा, श्रीकांत खड़े हैं और वह कार में जा बैठी हैं। कार वह जा और वह जा।

कहना चाहिए हम हशमत की रचनाओं में एक ऐसा गद्य लेखन है जो हिन्दी लेखन में एक नए युग की शुरुआत है। इसकी ख़ासियत कृष्णाजी का बेबाक व्यक्तित्व और दो टूक लेखन शैली है जिसमें वो किसी को भी रियायत नहीं देती हैं। यहाँ तक कि खुद को भी कटघरे में खड़ा करके खुद के खिलाफ़ फ़ैसले देती हैं।

उनकी रचना के गर्भ गृह में प्रवेश करते हुए जब हम हशमत की लेखन-प्रक्रिया की शिनाख़्त करते हैं तो उनकी साफ़गोई इस तरह प्रकट होती है— “हशमत मेरे लिए सिर्फ़ तख़ल्लुस नहीं है। वह मेरा आध्यात्मिक सहजात है। एक साहित्यिक व्यक्तित्व जो अत्यंत प्राकृतिक ढंग से मुझे उत्तेजित करता है। उसकी संक्षिप्तता और मानसिक स्वास्थ्य में कल्पना और वास्तविकता की एक नाटकीय भंगिमा है। तर्क और कल्पना के चलते उसने मेरे पात्रों में अपनी एक पहचान बनाई है। उसकी भंगिमा उसे बाहरी संसार में इस प्रकार स्थित करती है कि वह एक सुझाव का प्रतीक बन जाता है जिसने अपनी एकाग्रता के लिए एक प्रतिष्ठा अर्जित की है जो कि वास्तव में मेरा अपना आत्म है जो मेरे भीतर कहीं स्थित है। मैं आपके साथ एक रहस्य बाँटना चाहूँगी। मैं हशमत से एक दूरी बनाए रखती हूँ।

मुझे अपने लिए भीतरी और बाहरी तौर पर अपना एक स्पेस बनाना पड़ा है।

मैं घर-परिवार के लिए नहीं बनी थी। वह मेरी बनावट ही नहीं है। मेरा मानना है कि परिवार बनाना और उसे पालना-बढ़ाना एक स्त्री के लिए लेखन-विरोधी होता है। किसी भी औरत के लिए घर और लेखकीय अनुशासन के बीच सन्तुलन बनाना बहुत समय-साध्य चुनौती होती है। एक पितृसत्तात्मक समाज में घर और परिवार औरत की चेतना, ऊर्जा और कौशल पर अपनी खास दावेदारी रखते हैं, उन्हें सोखने लगते हैं और रचनात्मक लेखन जैसे किसी कार्य के लिए बहुत कम जगह रह जाती है।

अपने लिए मैं कह सकती हूँ कि मेरी भावनात्मक रेंज बहुत गहरी थी, लेकिन मैं स्वप्नशील कभी नहीं रही। अनुभव बहुत सुखदायी नहीं रहे लेकिन ऐसे भी नहीं थे, कि मैं स्वयं को दूसरों में खो दूँ। मेरे स्त्री-अनुभव औसत व्यक्ति से कम नहीं थे, लेकिन पर्यावरण ने न तो मेरी भीतरी जगहों को प्रभावित किया और न ही मेरे वजूद के जोड़ों को अस्थिर किया। रचनात्मक लेखन तभी सम्भव है जब एक स्त्री के रूप में आप जीवन के सरल और नरम विकल्पों को न चुनें। मुझे मालूम था कि एक लेखक के रूप में अपने काम को जारी रखने के लिए मैं कोई अन्य नहीं हो सकती, और न ही मेरा लेखन किसी अन्य चीज के मुकाबले द्वितीयक। मुझे बाकायदा मेरे 'मैं' में स्थित होना था, एक दम सटीक रूप में।

कृष्णाजी से मेरी निकटता तब और बढ़ गई जब सन छियासी में श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार की शुरुआत हुई। उसके निर्णायक

मंडल में तब नामवर सिंह, अशोक वाजपेयी, कुँवर नारायण की जूरी में कृष्णा सोबती एक अनिवार्य उपस्थिति की तरह थीं। मुझे याद है कि पहला पुरस्कार राजेश जोशी को 'मिट्टी का चेहरा' काव्य-संग्रह पर प्रदान किया गया। निर्णायक मंडल के सदस्य के रूप में, बैठक में कृष्णाजी ने राजेश जोशी की कविताओं की ख़ासियत की तारीफ़ की। खास तौर से उस संग्रह में भोपाल गैस त्रासदी को लेकर लिखी गई उनकी कविताओं पर चर्चा की। वे उन थोड़े कथाकारों में एक थीं जो कथा के साथ कविता में भी ख़ासी दिलचस्पी और दख़ल रखती थीं। यह कहना कठिन है कि उनके मुकाबले निर्मल वर्मा को छोड़कर किसी अन्य कथाकार में कविताओं को लेकर इतनी गहरी दिलचस्पी और मूल्यांकन दृष्टि दिखती हो।

कृष्णा सोबती उन थोड़े से साहित्यिक व्यक्तित्व में रही हैं जो स्त्री की स्वाधीनता और अभिव्यक्ति की आज़ादी को लेकर अत्यंत चौकस रही हैं, जिसको लेकर किसी भी शर्त पर उन्हें समझौता पसन्द नहीं था। बोलने से लेकर लिखने तक वे आजीवन अपने सिद्धांतों की पक्की रहीं।

मैं 2002 में सरकारी नौकरी में तबादले का दंश झेलते हुए जब आखिरकार दिल्ली से गोरखपुर लौटा, तब भी कृष्णाजी से फ़ोन पर हालचाल, लिखने, पढ़ने की बातें होती रहती थीं। मुझे याद है कि कुँवर नारायण के अलावा कृष्णा सोबती से जब भी बात होती, वे दिल्ली लौट आने की बार-बार पेशकश करतीं, पर ऐसा उनके जीते जी दिल्ली वापसी संभव नहीं हो सकी।





वह 'फिर' जो फिर कभी नहीं आया

मैं जब भी फ़ोन करती वे किसी तरह से बातचीत के लिए इनकार कर जातीं। मामला क्या है, यह समझते-समझते मुझे समझ आया था। इस बीच कृष्णाजी के लेखकीय स्वाभिमान के क्रिस्से मैं कितनों की ज़ुबानी सुन चुकी थी। कृष्णाजी और अमृता प्रीतम के बीच दोनों के उपन्यासों में 'जिन्दगीनामा' शब्द पर उनके लेखकीय स्वामित्व की लम्बी चलने वाली क़ानूनी लड़ाई, कृष्णाजी का इस कारण अपने पहले घर को बेच देने की नौबत आने और बाद में क़ानूनी लड़ाई को हार जाने के क्रिस्से भी। कुछ गिनी-चुनी सार्वजनिक मुलाक़ातों की बात छोड़ दें तो पहले (2000) और दूसरे मुकम्मल मुलाक़ात (2016 फरवरी) के बीच डेढ़ दशक का लम्बा अंतराल बिखरा हुआ था। मैंने यह तय कर रखा था कि मैं तय वक़्त और दिन का बिलकुल ख़्याल रखूँगी। इस बार मैं समय से पहले पहुँचूँगी।



कविता

ई-मेल : kavitasoni@gmail.com

कृष्णाजी पर लिखने से पहले मैं बार-बार सोच रही थी कि क्या उन पर लिखना इतना ज़रूरी है मेरे लिए? फिर भीतर से कहीं आवाज़ आती है— 'हाँ' बहुत ज़रूरी है... इसे लिखे बिना निस्तार नहीं।

कृष्णाजी को दैहिक स्तर पर खो देना कुछ ऐसा ही है मेरे लिए जैसे अपनी माँ को खो देना। कृष्णाजी हमारे लेखकीय परिवार की वह बुजुर्गतम कड़ी थीं, जिनसे हर पीढ़ी के लेखकों ने संवेदना-साहस और लेखक व लेखन को सम्मान देना और उसके हक़ के लिए लड़ना सीखा है। लेखन को औसत या हेय कर्म कभी न समझने की सीख ली है। खासकर स्त्री-लेखकों के सन्दर्भ में यह बात ज़्यादा सच है।

जिस तरह परिवार के बड़े-बुजुर्गों से नाराज़ हुआ जा सकता है, ऐतराज़ किए जा सकते हैं, मतभिन्नता हो सकती है, पर उनके लिए प्रेम और इज़्जत दिल में आमूल होती है, उसी तरह का प्रेम और सम्मान कृष्णाजी के लिए मेरे भीतर है।

एक स्त्री और रचनाकार होने के नाते मैंने भी उनसे बहुत-कुछ सीखा है। भले ही अधिक उनकी किताबों से गुज़रते हुए, तो कुछ थोड़ा उनके सान्निध्य के उन गिने-चुने लम्हों से भी।

उनसे पहली बार मिलना 'हिन्दुस्तान' अख़बार के लिए उनके इंटरव्यू के सन्दर्भ में हुआ। इससे पहले मिलना कई बार तय होकर भी रह-रह जा रहा था। पहली बार ग़लती मुझसे ही हुई थी। दिन-समय तय करने के बावजूद मुझे ठीक उसी दिन उन्हें मना करने की सूझी। उस सुबह मुझे ख़्याल आया, 'आज तो दीपावली है। शाम को तो मुझे दीये भी जलाने हैं और पकवान भी बनाने।' हालाँकि यह बहुत ज़रूरी जैसा कुछ नहीं था। दिल्ली में थी, साँझ फ़्लैट

था, कुछ मित्रों का। यह सब न भी करती तो शायद चल ही जाता पर कुछ स्वभाववश उत्सवधर्मी होने और कुछ तुरत-फुरत घर छोड़कर आए होने के कारण मुझे यह सम्भव न हुआ। मैंने पब्लिक बूथ से कृष्णाजी को फ़ोन करके न आने की बात कहकर माफ़ी माँग ली। उनसे कहा कि, “मुझे आज आना सम्भव नहीं हो सकेगा, मुझे यह ख्याल नहीं था कि आज दीपावली है।” कृष्णाजी ने तब बहुत शान्त और संयत शब्दों में कहा था, “कोई बात नहीं, जब आपको सुभीता हो फ़ोन करके आना तय कर लेंगी...”

थोड़ा रुककर फिर उन्होंने कहा था, “वैसे मैं दीपावली नहीं मनाती।”

मैं तब भी उनके कहे का तात्पर्य नहीं समझ सकी थी।

उसके बाद मैं जब भी फ़ोन करती वे किसी तरह से बातचीत के लिए इनकार कर जातीं। मामला क्या है, यह समझते-समझते मुझे समझ आया था। इस बीच कृष्णाजी के लेखकीय स्वाभिमान के क्रिस्से मैं कितनों की जुबानी सुन चुकी थी। कृष्णाजी और अमृता प्रीतम के बीच दोनों के उपन्यासों में ‘जिन्दगीनामा’ शब्द पर उनके लेखकीय स्वामित्व की लम्बी चलने वाली क़ानूनी लड़ाई, कृष्णाजी का इस कारण अपने पहले घर को बेच देने की नौबत आने और बाद में क़ानूनी लड़ाई को हार जाने के क्रिस्से भी।

कई बार के अनुरोध और बहुतेरी आनाकानी के बाद एक बार फिर वो बमुश्किल तैयार हुईं। मेरा दुर्भाग्य कहिए या फिर संयोग, दिल्ली में नई होने और उसके रास्तों से ठीक तरह से परिचित न होने के कारण घर तलाशते-ढूँढ़ते पहुँचने में मुझे फिर से 3-4 मिनट की देरी हो गई लेकिन पहुँची तो मैं इत्मीनान में थी, “अभी बहुत देर नहीं हुई है।”

लेकिन डोरबेल बजाने पर दरवाज़ा खोलने वाले शख्स ने मुझे यह कहकर

चलता कर दिया था, “वे मेरा इंतज़ार करके अभी-अभी कहीं निकली हैं।” हतप्रभ थी मैं, बस तीन-चार मिनट के इंतज़ार में? कौन-सा इतना ज़रूरी काम आ गया था इतनी ही देर में? अगर मैं वक़्त पर पहुँचती और अभी बातचीत चलती होती तो वो...?

मैं अपना-सा मुँह लेकर लौट आई थी चुपचाप।

यह अलग बात है कि हिम्मत अभी तक नहीं टूटी थी मेरी।

उनसे जब मिलना हुआ तो सोचा था, सबसे पहले मैं अपने उस दिन के व्यवहार के लिए माफ़ी माँगूँगी पर उनके स्नेह और आत्मीयता पगे व्यवहार और कुछ मेरे संकोच ने भी मुझे उस दिन इसका एक भी मौक़ा नहीं दिया। ख़ूब अच्छी बातचीत और ढेर सारा कुछ स्नेह से खिलाने के बाद उन्होंने अपनी किताब ‘ऐ लड़की’ मुझे उपहारस्वरूप दी थी और मैं इतनी बौड़म कि यह तक संकोचवश नहीं कह सकी थी उनसे कि, “प्लीज़ आप इस किताब पर अपने ऑटोग्राफ़ दें या कुछ लिख दें मेरे लिए।”

कुछ गिनी-चुनी सार्वजनिक मुलाक़ातों की बात छोड़ दें तो पहले (2000) और दूसरे मुकम्मल मुलाक़ात (2016 फरवरी) के बीच डेढ़ दशक का लम्बा अंतराल बिखरा हुआ था। मैंने यह तय कर रखा था कि मैं तय वक़्त और दिन का बिलकुल ख्याल रखूँगी। इस बार मैं समय से पहले पहुँचूँगी।

पर अपनी इसी दूसरी दिल्ली-पारी में ‘सत्याग्रह’ के लिए उनके जन्मदिन से कुछ सप्ताह पहले उनसे बातचीत करने जब मैं पहुँची थी तो बावजूद इन सारे एहतियातों के वह मुलाक़ात बिलकुल आधी-अधूरी-सी ही रही।

वहाँ पहुँचकर मैंने जब पहली नज़र देखा इर्द-गिर्द तो बरसों से मेरी स्मृतियों में अटका वह कमरा अब वह नहीं था। लगभग

वही सोफ़े और कालीन, लेकिन सबका रंग उदास और बदरंग हो चुका था। कुछ-कुछ कृष्णाजी के उम्र और बीमारियों से जर्जर हो रहे शरीर की ही तरह।

पहली बार के चमकते, सहेजे हुए उस घर में अब सीलन और धूल भी जैसे उसके स्थायी सदस्य हो चुके थे। शिवनाथजी नहीं थे इस बार, पिछली बार की तरह मुझे चाय-पानी पूछने और किसी अंग्रेजी अखबार में कृष्णाजी की 'सूरजमुखी अँधेरे के' पर आई टिप्पणी पढ़कर सुनाने के लिए ...हाँ, सामने की दीवार पर उनकी एक आदमक़द तस्वीर ज़रूर थी।

कृष्णाजी की परिचारिका विमलेश ने मुझे बहुत शर्मिन्दा स्वर में कहा था, "कह तो रही थीं कि आज आप आनेवाली हैं। नाश्ता भी बनाकर रखने को कहा था पर रात में उनकी तबीयत बहुत नासाज़ रही, सुबह डॉक्टर ने शायद नौद की भी दवा दी थी। सो रही हैं अभी। आप चाहें तो थोड़ा इंतज़ार कर लें।

एक घंटे... दो घंटे ...मैं इंतज़ार ही करती रही थी। विमलेश जाकर बार-बार झाँक आ रही थी पर वे बेसुध सोई हुई थीं।

हारकर मैंने वापस लौट आना तय किया।

मैंने विमलेश से कहा था, "मैं जा रही हूँ पर एक बार उन्हें देखकर जाना चाहूँगी।"

विमलेश ने कहा, "आप अपने सवाल चाहें तो छोड़कर जा सकती हैं।" मैंने कहा, "मैं इस बार लिखित रूप में कुछ नहीं लाई।"

बहुत हौले कदमों से विमलेश मुझे वहाँ तक लेकर गई थी। रातभर उनके जागे रहने की बात फिर से दोहराते हुए। मुझे लगा था ऐसे ही लौट आती अगर उन्हें बग़ैर देखे हुए तो कोई ग़लती करूँ कि न करूँ पर कुछ तो छूट गया होता मुझसे।

जो मैंने देखा वह दृश्य अविस्मरणीय था, कृष्णाजी अपने-आप में ही सिमटी हुई

एक नन्हे-से सोफ़े पर गुड़ी-मुड़ी थीं। उनके चारों तरफ़ लिपटे रहने वाले आवरण नौद में भी उनके इर्द-गिर्द कसे थे। मुँह थोड़ा-सा खुला हुआ। हल्के-हल्के ख़रटे आस-पास गूँज रहे थे। हाँ, यह चेहरा बरसों पूर्व देखे कृष्णा सोबती के चेहरे से ज़रूर अलग और क्षीण था लेकिन नौद में वो किसी छोटे बच्चे की तरह निष्पाप और अबोध लगीं। जागे में उनके चारों तरफ़ जो एक आभिजात्य और तेज पैबस्त रहता था, उसका लेशमात्र भी नहीं ...बस कोई नन्हा बच्चा जैसे एक गहरी नौद में डूबा कोई सलोना सपना देख रहा हो...

उनको इस तरह देखने के बाद मैं चुपचाप लौट आई थी। जो उद्विग्नता मेरे मन में उनसे न मिलने के कारण और दफ़्तर जाने को देरी होने के कारण थी, वह उन्हें देखकर जैसे एकदम मिट गई थी।

बाद में उन्होंने मुझे फ़ोन करके अपने सो जाने और तबीयत ख़राब होने के लिए माफ़ी चाही थी। इस बातचीत में 'सत्याग्रह' को लेकर जो उनके तमाम सवाल थे, इससे क्षणभर को यह भी लगा— कहीं नाम बहुत अपरिचित और अंजान होने, वेब पोर्टल के महत्व को उस तरह नहीं समझ पाने के कारण, उन्होंने जान-बूझकर तो यह बातचीत नहीं टाल दी?"

मैंने खुद को समझाया, "नहीं ऐसा नहीं हुआ होगा।"

उस दिन उस टेलीफ़ोनिक बातचीत के समाप्त होने पर उन्होंने कहा था, "तुम फिर से आना, मेरी तबीयत ठीक होने पर। सिर्फ़ मुझसे मिलने के लिए। तुम मुझसे मिलने बिना किसी प्रयोजन भी आ सकती हो।" कहकर हँस दी थीं वो, वही निश्छल हँसी।

लेकिन यह 'फिर' फिर कभी सम्भव नहीं हो सका था...

नदियाँ

पहाड़ की तरफ पीठ फेर के
वे निकल जाती हैं
बचते-बचाते
वे अब पहाड़ नहीं तोड़तीं
पत्थर नहीं तोड़तीं
वे जानती हैं कि
कैसे बचकर निकलना है पहाड़ से
रोज़-रोज़ वे पहाड़ से लोहा नहीं लेतीं
उनकी धार अब कुंद हो गई है
वे अब बूढ़ी हो गई हैं
पहाड़ काटने जितना लोहा उनमें नहीं
पहले वे बरसों-बरस की मेहनत से
काट देती थीं बड़ी-बड़ी चट्टानें
पहाड़ तक
पर अब नहीं
अब नहीं कटता पहाड़ उनसे भी
वे अब अपने लिए नया रास्ता नहीं बनातीं
बरसों बरस उसी रास्ते पर चलती रहती हैं
जिसे उन्हें दे दिया है पहाड़ ने
यों ही
खड़े-खड़े। □



राजेन्द्र उपाध्याय

ई-मेल : rajendra.upadhyaya58@gmail.com

स्पर्श

उम्र की इस दहलीज़ पर
तुम्हारा स्पर्श...
बहुत सुखद लगता
मैं चल सकता हूँ-
बिना किसी लटपटाहट के
अब भी...
फिर भी तुम्हारी नन्हीं उँगलियाँ
जो अब बड़ी हो गई हैं
हौले-हौले मेरी पीठ को
जब स्पर्श करतीं
उस सुख को बयाँ नहीं कर सकता
सीढ़ियों से उतरते वक्रत
तुम मेरी हथेलियों को
जब कसकर जकड़ लेते थे
अपने कोमल करों में
उस जकड़न में भी
तुम्हारा अनुराग
अहसास कराता था
तुम्हारी आत्मीयता का मुझे
याद आता है
मुझे मेरा बचपन
पिता के साथ
मैं भी जाता था... मेले-ठेले
उनके साथ मैं भी करता था ऐसे ही
जैसा किया है तुमने मेरे साथ
पर वह स्पर्श एक पिता को
कितना अभिभूत करता है!!
यह समझा हूँ अब। □



अनुपम परिहार

ई-मेल : anupamparihar.anu15@gmail.com



जन्मदिवस

5 फरवरी, 1916

परम्परा को पिघलाना और परम्परा को दोहराना, अलग-अलग बात है। भारत में कोई एक परम्परा नहीं है, परम्पराएँ हैं। उसी तरह जानकीवल्लभ शास्त्री की कविता में परम्परा के समानांतर एक दूसरी परम्परा है और परम्परा से विलग एक अलग परम्परा। 'रूप अरूप' से लेकर 'गाथा' में कविता का शील और संस्कार भिन्न-भिन्न परम्पराओं और जीवन-मूल्यों से प्रेरित है, प्रभावित है, अनुगृहीत है और उन सबसे अलग कवि का स्वअर्जित है।



रामप्रवेश सिंह

ई-मेल : muzsatis@gmail.com

जानकीवल्लभ शास्त्री समकालीनों से अलग कवि

जानकीवल्लभ शास्त्री अपने समकालीनों से अलग मिजाज के कवि हैं। औरों की तरह इनकी कविता में भिन्न स्वाद का अनुभव होता है। इनमें अर्थ के इतने स्तर हैं, इतने सन्दर्भ हैं, इतनी बारीकियाँ हैं, इतने भाव-प्रसंग हैं कि प्रत्येक शब्द अपनी अभिव्यक्ति के लिए उर्वर भूमि की तलाश करता है। इनके 'विज्ञान' भी निरंतर नए-नए रूप में अंकुरित होते हैं। आप जितनी बार इन्हें पढ़ेंगे, कवि से हर बार नए तरीके से साक्षात्कार होगा। हर बार भिन्न अर्थ की प्राप्ति होगी। कभी उनकी कविता का संगीत आकर्षित करेगा, कभी स्थापत्व। कभी विचार तो कभी इसका समूचा संसार खुलता-सा प्रतीत होगा। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाएगा, आपको उनमें नया भाव बोध, परम्परा बोध, कला की बारीकियाँ और सघनता का एहसास होता रहेगा।

आमतौर पर लोग उन्हें शास्त्र कवि मानते हैं, आभिजात्य कवि लेकिन उनकी काव्य-कला, उनकी जीवन-कला से परिपूर्ण है। सही-सही परखें तो अनुभव होगा उनका जीवन ही काव्य-कला है। उनकी सहजता यों कहिए, उनकी सहज साधना में ढल गई है। जानकीवल्लभ लिखते हैं, "बड़ी मुश्किल से आती है सहजता।" सच तो यह है कि जीवन में ऋजुता न हो तो कला में सहजता सम्भव ही नहीं। सहजता स्वधर्म में अटूट निष्ठा से आती है। इसे और ढंग से समझा जा सकता है कि कलाकार का हृदय जितना कोमल होगा, अनुभूतियों को ग्रहण



आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री धर्मपत्नी के साथ

करने वाली क्षमता उतनी ही प्रकट होगी। प्रौढ़ता में अपरिवर्तनशील और अप्रभावी रहने वाली कठोरता होती है जबकि ऐश्वर्य में ग्रहणशीलता का लचीलापन अनिवार्य होता है। जानकीवल्लभ की कविता में उनके आभिजात्य की द्रवणशीलता है और यही उनका लचीलापन है। लचीलापन में नैसर्गिक लय होता है। 'सुर के सुमेरु पर लय की ज्योति' उभारने वाले जानकीवल्लभ जीवन द्रव्य के कवि हैं। जीवन-द्रव्य का द्रवीकरण उनकी सहजता की पहचान है।

शास्त्रीजी की कविता उनके समय के अलावा दूसरे समय की ओर ले जाती है। दूसरे समय की ओर ले जाने का आशय है-समय से समयातीत की ओर ले जाना। यदि आप परम्परा की ओर निहारेंगे तो कवि के शब्द सहज भाव से आपको आकर्षित करेंगे, 'दीघार्युपुरातन तरु तन से/तटका फूटा नव पल्लव है/अधुनातन नया पड़ाव नहीं, आगे

बढ़ने का पग-रव है।' ('राधा' उत्सर्ग पर्व) और जब आधुनिकता की ओर गर्दन घुमाएँगे तो बोध होगा, 'जहाँ था धर्म आगे, कर्म है अब/कि मेहनत के अलावा तप नहीं है/जगह वह शील के लिए प्रगति ने/कि कुछ तहजीब से बढ़कर नहीं है।' ('उत्तम पुरुष', सं.-रेवतीरमण)।

परम्परा को पिघलाना और परम्परा को दोहराना, अलग-अलग बात है। भारत में कोई एक परम्परा नहीं है, परम्पराएँ हैं। उसी तरह जानकीवल्लभ शास्त्री की कविता में परम्परा के समानांतर एक दूसरी परम्परा है और परम्परा से विलग एक अलग परम्परा। 'रूप अरूप' से लेकर 'गाथा' में कविता का शील और संस्कार भिन्न-भिन्न परम्पराओं और जीवन-मूल्यों से प्रेरित है, प्रभावित है, अनुगृहीत है और उन सबसे अलग कवि का स्वअर्जित है।

शास्त्रीजी का काव्य-निर्माण किसी वादी या परिस्थितियों के आधार पर नहीं हुआ है,

अपितु उनकी मानसिक जीवन-अनुभूतियों के आधार पर हुआ है। जैसाकि पहले मैंने कहा है— वह आत्म-निर्माण के कवि हैं। उसी तरह काव्य-निर्माण के काव्य-पुरुष। यद्यपि वह मानते हैं, “मैं काव्य की सहजता में जीवन को न ढाल सका। मेरे लिए जीवन उतना सरल नहीं है, जितना काव्य।” कवि के स्व से हटकर अलग ढंग से सोचा जाए तब उसका सम्पूर्ण कवि-कर्म और अधिक निखरता-सा प्रतीत होगा। कह सकते हैं कि वह सहज जीवन के ऊर्ध्वारोही कवि हैं। उनकी कल्पना जीवन की खुरदरू वीरान और तथ्य की रेतीली भूमि से लेकर हरे-भरे मैदान तक और मन के उलझनपूर्ण धरातलों से लेकर उन्मुक्त भावों के उपवन तक आबाध गति से विचरण करती हुई, अनुभूतियों का मधु-संचय करती है और वही संचित अनुभूतियाँ, सहज रूप में उनकी कविता में व्यक्त हुई है।

जानकीवल्लभ ने सहजता को स्वाभाविकता के अर्थ में लिया है। ‘राधा’ महाकाव्य में उन्होंने लिखा है, “स्वाभाविकता, साधारणजन की वाणी-आदर्श कल्पना-सच सुन्दर कल्याणी।” (‘राधा’, प्रणय पर्व)

जानकीवल्लभजी ने साहित्य के प्रायः हर विधा में लिखा है। कहानी, उपन्यास, संस्मरण, आत्म-कथा, नाटक, एकांकी, यात्रा-साहित्य, रेखाचित्र, ललित-निबन्ध, आलोचना और कविता में उनकी गति अप्रतिम रही लेकिन उनका कवि व्यक्तित्व, सबसे अधिक देदीप्यमान है। कविता में गीति नाट्य, संगीतिका, ग़ज़ल, कथा-काव्य, लम्बी कविता, गीति-प्रबन्ध और स्वतन्त्र गीत-नवगीत क्या-क्या नहीं लिखा! सहस्र पृष्ठव्यापी ‘राधा’ महाकाव्य लिखने वाले जानकीवल्लभ शास्त्री की प्रसिद्धि उनके गीतकार के माध्यम से ही

अधिक हुई है। वह समकालीन हिन्दी कविता के सबसे बड़े गीतकार हैं। शेली और टैगोर के बाद संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक गीत लिखने वाले जानकीवल्लभ ने लगभग 2000 से अधिक गीतों की रचना की है। ‘रूप-अरूप’, ‘तीर तरंग’, ‘शिप्रा’, ‘मेघगीत’, ‘अवंतिका’, ‘उत्पल दल’, ‘सुरसरी’, ‘हंस किंकणी’, ‘श्यामा संगीत’, ‘धूपतरी’ जैसी गीत-कृतियों की पृष्ठभूमि में उनके बहुसंख्यक गीत पत्र-पत्रिकाओं में छपे हैं। कुछ लोग उन्हें ‘भाववादी कवि’ कहते हैं। गीतकार तो भाववादी होता ही है लेकिन उनका भाववाद न जाने कितने भावों में जीता है और कविता की आत्मा को गढ़ता है। उसे नया जीवन देता है। ब्रह्मदेव शास्त्री के शब्दों में, “उनकी दृष्टि में धुलिकण, तृणलतागुणपादप-पशु-पक्षी, धरती-आकाश और मानव जीवन की समस्त संगति-विसंगति, राग-विराग, वासना-विभ्रम, करुणा-मैत्री और श्रद्धा-भक्ति का संवेद चित्रण हुआ है।”

जानकीवल्लभ की काव्य-यात्रा, अविश्रांत काव्य-यात्रा है, जो न कभी थकती है, न कभी रुकती है, न कभी झुकती है और न कभी मूक होती है। उनका संकल्प है, ‘मैं चलता चलूँ निरंतर/अंतर में विश्वास भरे/इन सूखी-सूखी आँखों में/तेरी ही प्यास भरे/मत पहुँचूँ तुझ तक, पथ में/मेरी चरण-निशानी हो।’ एक साधक की यात्रा साधना के पथ से होकर गुज़रती है और साधना का पदचिह्न अंकित करती है। उसकी साधना, सिद्धि से बड़ी हो जाती है। जानकीवल्लभ की यात्रा अविराम है, साधना के शील और सद्विच्छा से प्रेरित। ऐसे आमतौर पर उन्हें उत्तर छायावाद के शिखर कवि कहने वाले भी हैं लेकिन उनकी शिखर का अर्थ समतल से नाता जोड़ने वाला

है। 'पाषाणी' गीति-नाट्य में उन्होंने लिखा है, 'कैसे कहते पाषाणी हूँ/मैं तो समतल की वाणी हूँ।' शास्त्रीजी की यात्रा समतल की नहीं है-सभी जानते हैं, और मानते भी हैं। उबड़-खाबड़, चढ़ान और ढलान, प्रतिकूल और अनुकूल, इन सारी स्थितियों में समबुद्ध भाव से चलते रहना और यात्रा को समतल बनाना वह अच्छी तरह जानते हैं। उन्होंने लिखा भी है, 'मैंने ऊँचाई मापी है/ऊँचे को अता पता मत हो/ऊँचे को ऊँचा दिखलाया/सतबार अकारण ही न हो।' ('राधा')

शास्त्रीजी ज्ञान-संवेदन के कवि हैं। अतीन्द्रिय संवेदना के सधे कवि। इनके लिए, कविता के लिए कोई बँधा-बँधाया विचार, शर्त नहीं है। हाँ, भाव की उर्मियाँ कविता को बहुत दूर तक खींच ले जाती हैं।

नामवर सिंह ने 'इतिहास और आलोचना' में लिखा है, "अक्सर ऐसा होता है कि विचारों से हम जहाँ नहीं पहुँच पाते, भावों से पहुँच जाते हैं। ऐन्द्रिय बोध ज्ञान का पहला सोपान है। किसी वस्तु का ज्ञान हमें सबसे पहले ऐन्द्रियबोध से ही होता है। उसे सामान्य व्यवहार की भाषा में हम अनुभव करते हैं। अनुभव की अवस्था में बोध वस्तु हमारे भावों का विषय होती है जबकि एक प्रकार के ऐन्द्रियबोध जगाने वाली अनेक वस्तुएँ, हमारे अनुभव में आती-जाती हैं तो हम इन विशिष्ट अनुभवों के आधार पर एक सामान्य मत बनाते हैं और वही विचार होता है। तात्पर्य यह है कि भावावेग ही वह पहली मनःस्थिति है, जिससे किसी वस्तु का ज्ञान होता है।" जानकीवल्लभ की कविता में भावों की तरलता है जो उनकी संवेदना को मुखर कर देती है। जानकीवल्लभ का काव्य-बोध वस्तुतः उनके सौन्दर्यबोध का पर्याय बन

गया है। यों कहिए, उनकी संवेदनात्मक ज्ञान का अभिज्ञान। जानकीवल्लभ लिखते हैं, 'होता उदात्त संवेदन तब/जब अंतरतर पावन होता/सुन्दर होता है सत्य तभी/जब जीवन मन भावन होता।' ('राधा', उत्सर्ग पर्व)। किसी भी कलाकार के लिए संवेदना अपरिहार्य है लेकिन विचार जगत में चिन्तक की संवेदनशीलता, उसके शील के लिए एक नई आत्मा गढ़ देती है। शास्त्रीजी के शब्द हैं, 'चिन्तक संवेदनशील नहीं/निर्णय निष्पक्ष नहीं होगा/मूकों की भाषा जो न बुझे/वह हृदय स्वच्छ नहीं होगा।' ('राधा', उत्सर्ग पर्व)

बार-बार मैं उनके सन्दर्भ में जीवन-द्रव्य की द्रवणशीलता को बल दे रहा हूँ। इसकी जड़ में सहजता के प्रति एक आग्रह का भाव दर्शाने वाले जानकीवल्लभ ही हैं। 'तमसा' नामक संगीतिका में उन्होंने लिखा है, "मैं सहजता को ही सर्वाधिक प्रभावोत्पादक मानने वालों में हूँ। सहजता जो सिकुड़न और फैलाव, पशती और चक्करदार घाटियों से नहीं टकराती। बियाबान में अपनी ही प्रतिध्वनियों से नहीं चौंकती-चीखती। बस, जलन की दीये की हँसमुख लौ की तरह मधुर-मधुर हँसती रहती है।"

शास्त्रीजी मानते हैं कि सहजता के सहारे साधक उस सीमा तक पहुँच जाता है जहाँ सरल और वक्र रेखाओं तथा वृत्त और आयताकार क्षेत्रों को उड़ने में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती। दूसरे शब्दों में, सहज साधना शील साधना है। वह गरल-सृजित होती है जो पूज्य भी होती है और आशुतोष भी। मदन दहन की उमा इसी शिव की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है मगर यह बड़ा ही विषम व्यापार है, 'मैं शिखर पर हूँ खड़ी/ऊपर गगन असहाय/और ऊपर जा सकूँ/इसका न शेष

उपाय/और नीचे अतल बोझल/दूर पारावार/चाहती समतल उसे/बना विषम व्यापार।' इसमें कतई संदेह नहीं कि कवि सहजता का आकांक्षी है किन्तु उमा के माध्यम से समतल की प्राप्ति को विषम-व्यापार बतलाना और जीवन की रीझता का अभाव मानना, इस बात को स्वीकार करता है कि यह पथ कठिन है। कवि का लक्ष्य फिर भी स्पष्ट हो गया है और उसकी आलोकित किरणें जगमगा रही हैं।

जानकीवल्लभजी ने बार-बार विभिन्न लहजों में, विभिन्न सन्दर्भों को उठाकर सहजता को अधिक उपयुक्त माना है। 'हंस बलाका' में उन्होंने लिखा है, "मैंने आशा और निराशा, ध्वंस और निर्माण एवं जीवन-मरण को काव्य में यथारूप प्रसरित हो जाने दिया है। मैं जहाँ जिस रूप में सहजता से अभिव्यक्त हो सका हूँ उसे ही अपनी सफल काव्य-कला समझता हूँ, भले ही वह किसी विशेष मानदंड के अनुसार निपट-निसार और निष्फल हो।"

शास्त्रीजी के पाठक उनकी सहजता को समतल समझते होंगे, ऐसा कहना भरोसे की बात नहीं है। समतल का अर्थ सपाट नहीं लिया जाना चाहिए। उनकी समतलता धरती की नहीं, सागर की समतलता है। धरती की समतलता स्थिर होती है जबकि सागर की समतलता तरल और आवेग से युक्त। इसमें तरंगों का ज्वार और भाटा दोनों होता है। शास्त्रीजी की कविता में समुद्र का विस्तार और गांभीर्य तो है ही, तरंगों के वैविध्य के साथ इसमें प्रतिभा का ज्वार तथा ज्ञान का भाटा उठता है। उनकी भावनाएँ, ज्वार बनकर उभरती हैं और शब्दों में ढल जाती हैं। उनकी प्रबुद्धता भाटा बनकर उस ज्वार को नीचे खींचती है। एक की उत्तुंगता और दूसरे के संकर्षण के बीच जो सन्तुलन है, वही

उनकी काव्य-साधना की समतलता है। यह समतलता सन्तुलित है। सागर के शील और मर्यादा के अनुकूल।

यह सभी जानते हैं कि लहरें सागर की होती हैं, सागर में उठती हैं, सागर में ही विलीन हो जाती हैं। उसी तरह उनकी कविता की लहरें उनके जीवन सागर में उठी हैं और जीवन सागर में ही विलीन हो गई हैं। लहरों की कोई बनी-बनाई राह नहीं होती, वह उठती है, गिरती है, एक-दूसरे को धकियाती है और धक्का देते-देते किनारों को चूम लेती है फिर भाटा बनकर लौट जाती है। जानकीवल्लभ की कविता की प्रकृति में अनुभूतियों की लहरें, उसी तरह उछाल खाती रहती हैं। यों कहिए, 'लहरों पै लहरों का वितान' अथवा 'लहरों पर दीया जलाकर ही/मैंने भवसागर पार किया।' भावसागर पार करना और लहर-पर-लहर उछाल कर फिर भवसागर की मर्यादा को अपनी कविता में घुला देना उनका काव्य-सृजन का संस्कार है।

जानकीवल्लभ की काव्य-लहरों की गति, उनके समुद्र जैसे अथाह और अछोर मति से परिपूर्ण है। इसीलिए वह पूरी गम्भीरता से पाठकों को आकर्षित करते हैं, उनकी कविता भाव को तरंगित करती है, मन को बाँधती है, बोध को अनुशासन देती है और ज्ञान को विस्तृत आकाश। आकाश जैसा निर्मल, स्वच्छ और विस्तृत है इनका काव्य-संसार। शास्त्रीजी की काव्य-कृतियाँ, उनकी प्रतिभा के सागर से फेंकी गई काव्य-मणियाँ हैं जिससे सम्पूर्ण काव्य-जगत जगमगा रहा है। यह जगमगाहट उनकी आलोड़न भरी भावना की है, सर्जना की है या उनके असह्य-अकह्य भावानुभूतियों के परिणाम, आप स्वयं निर्णय करें!



शीत ऋतु

(एक)

धूप सिरहाने व दिन के
पायताने की,
तपिश से तूती सदृश
नक्कारखाने की

कंपकंपी के वाद्य मारक
फिर लगे बजने
गात सूरज का बुढ़ापे से
लगा सजने
लगी जो दिन-ब-दिन घटने
ज्योति आँखों की
धुन्ध ले अंगड़ाइयाँ
उसको लगी अँजने
साँस उखड़ी जोड़ नभ के
चला मण्डप जो
हँसैं घड़ियाँ खड़ी
पौरुष आजमाने की

नागफन के भूषणों से
सृष्टि की काया
इस तरह होने लगी
भूषित डसे छाया
नीर मुठी में लिए कस
डंक बिच्छू के
झेलने को दिसम्बर की
राक्षसी माया



शिवाकान्त मिश्र 'विद्रोही'

ई-मेल : skmishra9792938939@gmail.com

कोहरिल परिधान में
प्राची दुल्हन के तन
हाथ में ले वायु हिम
उबटन लगाने की।

(दो)

लाद पीठ पर बर्फ चले
सरपट पछुआ के पाँव
सिहर उठे हैं महानगर
काँपे फिर पुरवे-गाँव

मरियल सूरज के डैने
थक रहे मुँडेरों तक
कुहरे के मिजाज बिगड़े
सन्ध्या के डेरों तक
फुर्र शिकार भूख के पेट
मारते ऐसे लात
अति प्रिय हुई कन्दराएँ
कुछ भूखे शेरों तक
बदले रंग त्वचा की
सिकुड़ी यूँ जीवन की देह
गिरि शिखरों के झील-
तटों पर सहमी-सकुची नाव

धूप नवोढ़ा झाँके
कनखी से ले पर्वत ओट
आँख-मिचौली खेले
घूँघट में रख मन में खोट
ओढ़ उदासी-खामोशी
बेवश वन-बाग-तड़ाग
भीतर गहराई तक हिलते
खाए ऐसी चोट
फँसे धुन्ध के चक्रव्यूह में
सड़क-चतुष्पद मौन
जर्जर निर्धन और वृद्ध तन
लगे मृत्यु के दाँव। □



वर्ष 2024 के व्यास
सम्मान से सम्मानित

सूर्यबाला का जन्म साहित्य व संस्कृति की तपोभूमि बनारस में हुआ और शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से। उनके परिवार में साहित्य व संगीत का स्वस्थ माहौल था। माता-पिता दोनों बेहद संवेदनशील, जिन्होंने अपनी चारों बेटियों को बड़े लाड़ से पाला था। घर में पुस्तकों का समृद्ध संसार था, माँ बहुत अच्छी उर्दू जानती थीं। बड़ी सरसता व तरलता थी। वातावरण में मिश्री-सी घुली रहती थी। पिता वीर प्रताप सिंह शायरी के शौकीन थे और हारमोनियम भी बजा लेते थे। सब कुछ खुशनुमा चल रहा था कि यकायक एक दिन क्रहर टूट पड़ा। अचानक पिता का अवसान हो गया।



निर्मला डोसी

ई-मेल : nirmaladoshi1953@gmail.com

सूर्यबाला लिखना मेरे लिए तीर्थाटन जैसा है...

‘सारिका’ में एक प्रेम कहानी छपती है, जिसे पढ़कर एक युवती अपनी प्रतिक्रिया लिख भेजती है। प्रतिक्रिया के उस पत्र में ‘सारिका’ के कदावर सम्पादक कमलेश्वरजी को आगत की, न जाने कौन-सी सम्भावना दिख जाती है कि वे ‘सारिका’ के मोहर लगे लिफाफे तथा लेटर हेड पर पाठिका के पत्र का जवाब ही नहीं देते, उसे निरंतर लिखते रहने की सलाह देते हैं तथा रचनाओं को विचारार्थ भेजने का आग्रह भी करते हैं। कच्ची उम्र वाली अलेखिका ऐसा पत्र पाकर बावरी-सी अपनी लिखी कहानियाँ खँगालने लग पड़ती है। अंततः बेहद खराब हस्तलिपि में, आधी हल्की आधी गहरी स्याही से लिखी दो कहानियाँ छाँटकर भरपूर उत्साह से छलकती ‘सारिका’ में भेज देती है। साथ ही एक पत्र नत्थी करना नहीं भूलती, जिसमें थोड़ा हास्य, थोड़ा व्यंग्य, थोड़ी अनगढ़ता होती है। घोर आश्चर्य कि वो कहानी शीघ्र महिला लेखन अंक में छपती है।

नए-नए लिखने वाले के लिए इस तरह की घटना उम्मीद का उजला छोर होती है। वो तो बाद में कमलेश्वर बताते हैं कि पहले तो उन्होंने उनके भेजे बेढब कागज़ों को डस्टबिन के हवाले कर दिया था, फिर कहानी के साथ भेजे पत्र को पढ़कर मुस्कुरा उठे और वापस डस्टबिन से उन गुड़ी-मुड़ी करके फेंके कागज़ों

को निकाला और उन्हें पढ़ा ही नहीं बल्कि आगामी अंक में छपा भी।

इस घटना के कुल जमा दो-ढाई वर्ष के पश्चात सूर्यबाला का बहु-चर्चित उपन्यास 'मेरे संधिपत्र' 'धर्मयुग' जैसी विशिष्ट पत्रिका में धारावाहिक रूप में छपने लगा और देशभर के पाठकों में लेखिका का नाम चर्चित हो गया अर्थात् लेखन के प्रारम्भिक दौर में प्रोत्साहन का पाथेय मिल जाए तो मंजिल की तरफ बढ़ते धावक के कदमों को ऊर्जा ही नहीं मिलती, अंदर छुपी अहंता को बाहर निकालने की प्राण वायु भी मिल जाती है।

उपन्यास, कथा-संग्रह, व्यंग्य-संग्रह के अतिरिक्त आकाशवाणी-दूरदर्शन की फ़िल्में तथा शिक्षण संस्थानों में वाचन, हर क्षेत्र में सूर्यबालाजी का खासा दखल है। न केवल महानगर मुम्बई बल्कि देशभर में उनके प्रशंसक पाठक हैं। साहित्यिक गतिविधियों के आयोजनों में अक्सर वे अध्यक्ष या मुख्य अतिथि के तौर पर या मंच पर रहती हैं और अवकाश प्राप्त भारतीय नेवी में पदस्थ रहे उनके पति श्रोताओं की पंक्ति में बैठकर प्रशंसा के भाव चेहरे पर धारे, पत्नी की या पत्नी पर कही गई सारी बातें बड़े ध्यान से सुनते हैं। कार्यक्रम के आयोजक उन्हें विशिष्ट लोगों के लिए आरक्षित प्रथम पंक्ति में बैठने का आग्रह

करते हैं तो भी वे विनम्रता से उसे अस्वीकार कर थोड़ा पीछे बैठकर दत्तचित्त होकर सारा कार्यक्रम देखते-सुनते हैं।

एक बार कोलकाता के भारतीय भाषा परिषद से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'वागर्थ' ने एक अनूठा अंक निकाला। कथाकारों से कविताएँ लिखवाई और कवियों से कथाएँ। सूर्यबालाजी ने उस वक़्त अपने छोटे देवर पर लिखी एक कविता भेजी। वो कविता उनके व्यक्तित्व के समर्पित रूप का



सूर्यबाला

अक्सर प्रस्तुत करती है। सम्भवतः जिसका शीर्षक 'कुटुम्ब' या 'आधी सदी पहले की बात' था। कविता कुछ इस तरह थी—

'आधी सदी पहले वो मेरा छुटका देवर

रसोई के दरवाज़े पर डंका-सा पीटता था

और बाइस की मैं सहमी-सकपकाई

चूल्हे से गरम फूली रोटियाँ

उसकी थाली में सरकाती थी
रोटी की भाप से जली हथेलियाँ
चुपके से नल की धार में ठंडाती थी
आँखियों से अंदाज़ती कि वो भूखा न
चला जाए

मुँडेर से देखता मेरा पति मन-ही-मन
तृप्त होता

यह स्त्री उसके कुटुम्ब की सही

सम्भाल कर लेगी

आधी सदी बाद खिचड़ाए बालों वाला
वही देवर मेरे पाँव इस तरह छूता है
कि उन्हें मन्दिर की देहरी बना देता है

और जूते के तस्मे खोलते पति का गला
रूँध जाता है कि यह भाई इस स्त्री की सार-
सम्भाल कर ले जाएगा।'

छह दशकों से ज्यादा वैवाहिक समय
बीत जाने के बाद उनके पास रिश्तों की ऐसी
भव्यता व सरसता की अनमोल पूँजी है तो
यक्रीनन ये उनका अपना पावना है।

सूर्यबाला का जन्म साहित्य व संस्कृति

की तपोभूमि बनारस में
हुआ और शिक्षा काशी
हिन्दू विश्वविद्यालय से।
उनके परिवार में साहित्य
व संगीत का स्वस्थ माहौल
था। माता-पिता दोनों बेहद
संवेदनशील, जिन्होंने
अपनी चारों बेटियों को बड़े
लाड़ से पाला था। घर में
पुस्तकों का समृद्ध संसार
था, माँ बहुत अच्छी उर्दू
जानती थीं। बड़ी सरसता
व तरलता थी। वातावरण

में मिश्री-सी घुली रहती थी। पिता वीर प्रताप
सिंह शायरी के शौकीन थे और हारमोनियम
भी बजा लेते थे। सब कुछ खुशनुमा चल
रहा था कि यकायक एक दिन क्रहर टूट
पड़ा। अचानक पिता का अवसान हो गया।
वे उस वक़्त छठी कक्षा में पढ़ती थीं। दस-
ग्यारह वर्ष की उम्र थी। घर भर के लिए यह
ज़बरदस्त हादसा था। बड़े सुरक्षित माहौल
में उनकी माँ और चारों बहनें तथा ढाई वर्ष

का नन्हा भाई अब तक रह रहे थे, सबको
लगा कि जैसे सिर पर से घर की छत ही उड़
गई हो, घर तो क्या मोहल्ले भर में सन्नाटा
पसर गया था।

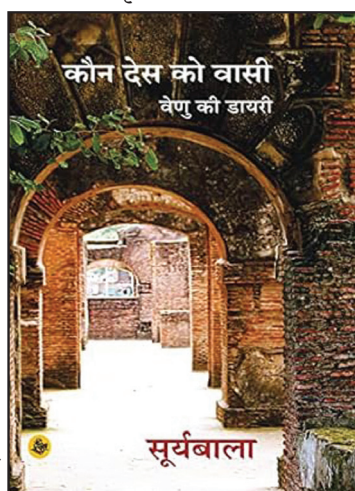
सूर्यबालाजी से कुछ न भूलने वाले
क्षणों के बारे में जानना चाहा तो बोलीं,
“असमय पिता का चले जाना हम सभी को
भीतर तक तोड़ गया पर हम बच्चे रातोंरात
बड़े हो गए। अच्छी बात यह रही कि वे
सभी अपने भीतर हरहराते दुःख व रुदन को
एक-दूसरे से छुपाने के लिए आपस में खूब
बोलते- बतियाते-हँसते और घर का माहौल

सामान्य रखने में लगे रहते
थे। यह बहुत मुश्किल तो
था, पर करते थे।”

सूर्यबाला बताती हैं
कि पिता के न रहने पर
मेरी माँ के बच्चे-खुचे पैसे
भी ख़त्म हो गए थे। ख़ाली
पासबुक लिए माँ लौटी थी
एक दिन और चुपचाप उसे
पूजा की चौकी पर रख
दिया, तब कैसी तो कलेजे
में हूक-सी उठी और
दहशत बैठ गया था मेरे

अंदर, और वो कचोट कदाचित मेरी कहानी
व उपन्यास में उतर भी आई है।

इसी तरह खुशी वाली लहक भी अंदर
बैठ गई। मैं एम.ए. की प्राइवेट स्टूडेंट थी जिसे
पी-एच.डी. के दौरान स्कॉलरशिप मिलने की
दूर-दूर तक कोई सम्भावना नहीं थी। ऊपर
से खुद विभागाध्यक्ष मेरी छात्रवृत्ति काटकर
अपने प्रिय छात्र को देना चाहते थे। मैं पूरी
तरह ध्वस्त-पस्त सारी उम्मीदें छोड़ चुकी



थी। ऐसे में जब अचानक छात्रवृत्ति मिलने की सूचना मिली और हाथ में स्कॉलरशिप के पैसे आए तो मुझे लगा, कि अब मैं अपनी माँ का कर्ज़ पूरा नहीं, तो थोड़ा-सा तो उतार सकूँगी, वैसे खुशी के क्षण फिर कभी नहीं आए जीवन में।”

सूर्यबाला ने अतीत के पन्ने पलटते हुए बताया कि वे अन्याय का प्रतिकार किए बिना नहीं रहतीं। विशेषतः किसी अपने के साथ मेरे सामने ग़लत हो रहा हो तो। वे अपनी दिवंगत जीजी से जुड़ी एक घटना बताती हैं कि उन दिनों जीजी हमारे पास मायके आई हुई थीं। जिस दिन उन्हें वापस ससुराल जाना था, किसी कारणवश नहीं जा सकीं। दूसरे दिन जीजाजी आए और अकेले में जीजी से बेहद गुस्से में बोले, जीजी को इस तरह डाँटना मेरे बर्दाश्त के बाहर था। अचानक ठीक सामने जाकर जीजाजी से मैं भी ज़ोर से बोली, आप मेरी जीजी को इस तरह नहीं बोल सकते। वे चुपचाप उठकर चले गए। आश्चर्य... परिवार में किसी ने कुछ नहीं कहा मुझे, पर मेरा सोच-सोचकर बुरा हाल था कि यह क्या किया मैंने... तो इस तरह की चीज़ें मुझसे हो जाया करती हैं। जीजाजी ने बाद में किसी बात पर हँसकर कहा था, बाप रे मिन्नी का गुस्सा तो ज़बरदस्त है (‘मिन्नी’ सूर्यबालाजी के घर का नाम है)।

पिता के अवसान के बाद वे अक्सर घर की मुँडेर पर जा खड़ी होतीं जहाँ से थोड़ी-थोड़ी देर बाद जाती अर्थियों को देखते-देखते उन्हें गहरे अवसाद ने घेर लिया था। धीरे-धीरे पढ़ाई में मन लगाया।

कालांतर में भारतीय नेवी में कार्यरत लाल साहब से उनका विवाह हुआ और

उनकी नेवी में नौकरी के कारण देश-विदेश की यात्राओं के अवसर सुलभ हुए।

सूर्यबाला का व्यक्तित्व दो तरह के ध्रुवांत बिन्दुओं से बना दिखता है। एक तरफ़ वे बेहद खिलंदरी जीवंत-सी हैं तो दूसरी तरफ़ चुप्पा-सी। दोनों रूप अलग तो हैं, किन्तु एक-दूसरे को बाधित नहीं करते। देश-विदेश की यात्राएँ, फिर मुम्बई में प्रवास और बीच-बीच में बेटों के पास विदेश जाते रहना उनके जीवन के ज़रूरी पायदान हैं, जो उनके लेखन के फलक को विस्तृत करने में सहायक बने हैं। इसीलिए ही उनकी रचनाओं का संसार गाँवों-कस्बों-महानगरों से विदेशों तक फैला हुआ दिखता है। जीवन के प्रत्येक ओनों-कोनों को उनकी पारखी नज़र ने जाँचा-पड़ताला और तब अपने लेखन में उतारा है।

हास्य-व्यंग्य जैसी दूरुह विधा में, महिला-लेखन लगभग अनुपस्थित था। सूर्यबाला ने उसमें अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करवाई है। वे कहतीं हैं कि लेखक तो थोड़ा-बहुत प्रयास करके कोई हो भी सकता है किन्तु व्यंग्यकार पैदाइशी होता है। हास्य-व्यंग्य के बहाने फूहड़ता या ओछापन उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं है। उनका कहना है कि हास्य या व्यंग्य प्रवृत्ति पर किया जाना चाहिए, व्यक्ति पर नहीं और परस्पर दुश्मनी निकालने के लिए तो क्रतई नहीं बल्कि इस विधा का प्रयोग समाज की बेहतरी के लिए हो। वे ‘लिखने’ से मिलने वाले सुख को सर्वोपरि मानती हैं, कहती हैं, “लिखना मेरे लिए तीर्थार्णन जैसा है। जब मन हुआ मार ली डूबकी गंगा में और हो गए संतोष धन से निर्मल।”

सूर्यबाला के अनेक कथा-संग्रह, उपन्यास व व्यंग्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और भारत भर में उनके प्रशंसक हैं। तक्ररीबन तमाम सर्वोच्च पुरस्कार उन्हें मिल चुके हैं। उनके बहुचर्चित बृहद् उपन्यास 'कौन देश को वासी : वेणु की डायरी' को व्यास सम्मान देने की घोषणा हुई है। निःसंदेह यह बड़े हर्ष का विषय है।

यह बृहद् उपन्यास, एक विशाल फलक पर देश और देश के बाहर को उजागर करता है। इसका वितान जितना विस्तृत है उतना ही गांझिन भी, मनुष्य की संवेदनाएँ और खोने-पाने की विकलताएँ जैसे एक बड़े फ्रेम में साकार हो उठी हैं।

बड़ा सामयिक ज्वलंत तथा ज़रूरी विषय उठाया है लेखिका ने इस उपन्यास में। एक तरफ़ भारत की प्रतिभाओं का पलायन वर्षों से हो रहा है। सबकी मंजिल अमरीका, ऑस्ट्रेलिया या कोई यूरोपियन देश है।

पूरे उपन्यास में लेखिका की सिद्धहस्त कलम ऐसे-ऐसे आख्यान उकेर जाती है

जैसे वह कलम न होकर तूलिका हो और पाठकों के सामने साकार हुआ कोई दृश्य, जो विस्मय-विमुग्ध कर छोड़ता है। कुछ पंक्तियों को तो फ्रेम में मँढ़वाकर रख देने का जी चाहता है।

यक़ीनन उनके अपने अनुभव, उनका विदेश प्रवास, लेखन को प्रामाणिक बनाने में बहुत बड़ी भूमिका का निर्वाह करते हैं।

हिन्दी साहित्य की अनेक कृतियाँ कालजयी उपन्यासों की श्रेणी में आती हैं जिनमें विमल मित्र का 'खरीदी कौड़ियों के मोल', अमृतलाल नागर का 'पीढ़ियाँ और करवट', धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता', यशपाल का 'झूठा सच', भगवती चरण वर्मा का 'भूले-बिसरे चित्र' इत्यादि की शृंखला में सूर्यबाला के 'कौन देस को वासी : वेणु की डायरी' को रखा जा सकता है जो लेखिका के दस बरसों से ज़्यादा समय में लिखा गया और सुधी पाठकों द्वारा सराहा गया।

प्रकाशन विभाग के विक्रय केन्द्र

नई दिल्ली	पुस्तक दीर्घा, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड	110003	011-24367260
पुणे	ग्राउंड फ़्लोर, कैरियर बिल्डिंग, महादजी शिंदे बीएसएनएल टी ई कम्पाउंड, पूना क्लब के पास, कैप, पुणे	411001	-
कोलकाता	8, एसप्लानेड ईस्ट	700069	033-22488030
चेन्नई	'ए' विंग, राजाजी भवन, बसंत नगर	600090	044-24917673
तिरुअनंतपुरम	प्रेस रोड, नई गवर्नमेंट प्रेस के निकट	695001	0471-2330650
हैदराबाद	कमरा सं-204, दूसरा तल, सीजीओ टॉवर, कवादिगुड़ा, सिकंदराबाद	500080	040-27535383
बैंगलुरु	फ़र्स्ट फ़्लोर, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदर, कोरामंगला	560034	080-25537244
पटना	बिहार राज्य कोऑपरेटिव बैंक भवन, अशोक राजपथ	800004	0612-2683407
लखनऊ	हॉल सं-1, दूसरा तल, केंद्रीय भवन, क्षेत्र-ए, अलीगंज	226024	0522-2325455
अहमदाबाद	4-सी, नैच्युन टॉवर, चौथी मंजिल, एचपी पेट्रोल पंप के निकट, नेहरू ब्रिज कार्पर, आश्रम रोड	380009	079-26588669
गुवाहाटी	असम खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड परिसर, एमआरडी रोड, चानमारी, गुवाहाटी	781003	0361-4083136



तू न होती

ऐ बसंती हवा तू न होती तो
जीने की आस न होती
तू न होती तो
पेड़ों की डालियाँ
नव पातों से न सजतीं
तू न होती तो
प्रीत की होली कैसे होती !
ऐ सूर्य तू न होता तो
नभ में लाली कैसे छाती !
तू न होता तो
कच्ची कलियाँ कैसे खिलतीं !
ऐ बरखा तू न होती तो
वसुधा पर हरियाली कैसे आती !



संजीत कुमार 'जल'

ई-मेल : sanjeet1455400@gmail.com

ऐ निशा तू न होती तो
मन को सुकूँ कैसे मिलता !
ऐ नदी तू न होती तो हम
किसके किनारे बैठते
और किससे बातें करते !
ऐ दादुर तू न होता तो
गीत नदी के कौन गाता !
ऐ काली कोयल तू न होती तो
मीठे बोल किसके सुनते !
ऐ नैया तू न होती तो
नदी भी सूनी लगती
ऐ तरुवर तू न होता तो
पवनों में भी संगीत न होता
ऐ माझी तू न होता तो
नावें भी बदसूरत लगतीं
ऐ खामोशी तू न होती तो
शायद नींद भी न होती
और तेरे बिन मैं भी न होता । □

जनवरी, 2025 अंक के पृष्ठ 30 पर नीरजजी का जन्म 5 जनवरी बताया गया है जबकि उनका जन्म 4 जनवरी है। टाइपो एरर के लिए खेद है।

- 'आजकल' टीम



वर्ष 2024 के साहित्य अकादमी
पुरस्कार से सम्मानित

गगन गिल का लेखन अपने नाम की तरह ही फैलाव, पवित्रता और निरभ्रता से भरा है। दुःख, उदासी, प्रेम, शान्ति, करुणा की अभिव्यक्ति के अनेक रूपों से सजा उनका काव्य-संसार अपनी सतह के नीचे की गहराई में प्राणवान, स्पंदन और स्फुरित स्वभाव को लिए है। अपनी लय में लयलीन। वे रचना को एक गतिशील प्रक्रिया मानती हैं। गतिशील इस अर्थ में कि वे परम्परा के पुरुषार्थ को जानती हैं और उससे अपना सृजनात्मक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इसलिए वे अपनी रचना-प्रक्रिया में अपने मौलिक स्वर का भी संधान कर पाती हैं।



ब्रजरतन जोशी

ई-मेल : drjoshibr@gmail.com

गगन गिल आत्मखोज के आयाम

यह दुनिया एक अनंत प्रवाह है। हम सब अस्तित्व में प्रवाहमान हैं। अनगिनत बिम्ब, ध्वनियाँ, घटनाएँ दृश्य अनवरत हमारी चेतना पर दस्तक देते रहते हैं। कलाकार अपने अंतर्लोक में घट रहे इस घमासान का निरीक्षण अनासक्त भाव से करता रहता है। चेतना के निरीक्षण के अतिरिक्त कलाकार अपने अनुभव को आकार देने की प्रक्रिया में उसमें से बहुत कुछ को छोड़ता है और थोड़े को सहेजता है। इस प्रक्रिया में वह लय, संतुलन और एक्य की साधना से अपने रचना-संसार को बाँधता है। फिर वह संकेत, ध्वनियों, शब्दों और भाषा की विविध युक्तियों के माध्यम से अपने पाठक संसार के समक्ष एक ऐसे अद्वितीय संसार को प्रस्तुत करता है जिससे पाठक पहले से ही जाने-पहचाने इस संसार को एक भिन्न संसार के रूप में पहचानकर प्रमुदित होता है।

हर रचनाकार अपने आत्मसंघर्ष, युगीन परिस्थितियों और जीवन संघर्ष के समेकित दबाव का सामना करने की अपनी आंतरिक शक्ति से ही अपनी सर्जक व्यक्तित्व की ओर ऊर्जस्विता ग्रहण करता है। उसकी रचनाओं में आई मार्मिकता एवं जीवंतता, जो उसे प्रामाणिक रचनाकार होने का गौरव देती है, का उत्सव यहीं से होता है।

गगन गिल का सृजन हिन्दी के कोलाहल भरे वातावरण में साँझ के समय दूर पहाड़ से आती श्रवण

मधुर ध्वनि की तरह है जो हमें हमारे दृश्य-श्रवण बहुल संसार से विरक्त कर अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। उनका रचनाकार जानता है कि अस्तित्व के सम्मुख स्वायत्त संसार की रचना करना अति जटिल कर्म है। उनके लिए जीवन और मृत्यु के दोनों छोरों के मध्य अपने स्व को बचाना ही कला है।

इसलिए हम देखते हैं कि उनके रचना-संसार को हम किसी बने-बनाए खाँचे में नहीं अटा सकते बल्कि वह विचार और अनुभव के बीच की खाई को पाटने वाले सजग, सतर्क और समर्थ रचनाकार के रूप में हमारे सम्मुख आती हैं।

उनका समर्थ रचनाकार एक अनन्य खूबी लिए है जिसमें वह अनुभव, धारणा और प्रेरणा की भिन्नताओं के मध्य संतुलन को साधता है। यही कारण है कि जैसे ही पाठक उनके रचना-संसार में प्रविष्ट होता है, तो उसे 'देखत तुमही तुमही हो जाई' की अनुभूति होती है।

बड़े रचनाकार की एक पहचान यह भी होती है कि वह जीवन को जीवन की तरह देख सकता है बिना किसी लाग-लपेट, विचार कवच और अन्य माध्यमों के। केवल जीवन। वह भी अपनी आँख से। जस का तस।

गगन गिल का लेखन अपने नाम की तरह ही फैलाव और पवित्रता से भरा है। दुःख, उदासी, प्रेम, शान्ति, करुणा की अभिव्यक्ति के अनेक रूपों से सजा उनका काव्य-संसार अपनी सतह के नीचे की गहराई में प्राणवान, स्पंदन और स्फुरित स्वभाव को लिए है। अपनी लय में लयलीन।

वे रचना को एक गतिशील प्रक्रिया मानती हैं। गतिशील इस अर्थ में कि वे परम्परा के पुरुषार्थ को जानती हैं और उससे



गगन गिल

अपना सृजनात्मक सम्बन्ध स्थापित करती हैं। इसलिए वे अपनी रचना-प्रक्रिया में अपने मौलिक स्वर का भी संधान कर पाती हैं। उदाहरण के लिए, स्त्री पीड़ा को व्यक्त करते हुए वे जो कहती हैं, उसे देखना दिलचस्प है। देखिए, वह शेष हिन्दी की स्त्री पीड़ा से अपनी पीड़ा को किस तरह की भाषिक

संरचना में अभिव्यक्त करती हैं—

‘बच्चे तुम घर जाओ
घर कहीं नहीं
तो वापस कोख में जाओ
माँ कहीं नहीं
पिता के वीर्य में जाओ
पिता कहीं नहीं है
तो माँ के गर्भ में जाओ

गर्भ का अंडा बंजर
तो मुन्ना झर जाओ तुम
उसकी माहवारी में
जाती है जैसे उसकी इच्छा
संडास के नीचे
वैसे तुम भी जाओ
लड़की को मुक्त करो।’

यह कविता किस तरह हमारे समाज में व्याप्त संरचनात्मक हिंसा की गहरी पड़ताल करती हुई उस पर व्यंग्य करती है और हमें सोचने पर मजबूर करती है कि आखिर कब-कब यह तथाकथित सभ्य समाज स्त्री की गरिमा, गौरव और मुक्ति के लिए उसे सच्ची मुक्ति प्रदान करेगा।

इसी क्रम में हम उनके गद्य को भी देख सकते हैं। उनके गद्य में जो भाव प्रवणता और सहजता है, वह दरअसल उनके लेखन का ही प्राण तत्त्व है। उदाहरण के लिए उनके अद्भुत यात्रा संस्मरण ‘अवाक्’ : कैलाश-मानसरोवर : एक अंतर्यात्रा की बानगी देखिए-

‘जल तुम्हारा आशीर्वाद लेती हूँ, अपने पुरखों के लिए, आने वालों के लिए। मेरे भीतर की गाँठ को, दुःख को, क्लेश को बहा दो। मुझे मुक्त करो, स्वच्छ करो।’

यह वाक्य संरचना आत्म का आलाप है। अपने होने का। नाभि पर केन्द्रित। चेतना के इस अपूर्व प्रवाह में कौन नहीं ठिठके रहेगा या नहीं ठहरेगा। पढ़ते-पढ़ते कब स्वयं पाठक इसी चेतना का सहयात्री हो जाता है, उसे पता ही नहीं चलता।

प्राचीन ग्रंथों में दो प्रकार की यात्राओं का विवरण मिलता है। एक शुक्र मार्ग, दूसरी पिपीलिका मार्ग। गगनजी की यात्रा पिपीलिका मार्ग की यात्रा है। वैसे यात्रा तो पक्षी भी करते हैं, पर उनकी यात्रा में कोई पदचिह्न नहीं होते, मगर पिपीलिका मार्ग की यात्रा में चींटी पग-पग पर अपने रास्ते का चिन्हीकरण और संधान करती चलती है। गगनजी का यह यात्रा-वृत्तांत हिन्दी के श्रेष्ठतम यात्रा-वृत्तान्तों में है क्योंकि पिपीलिका मार्ग की गति उसे जीवंतता से भरे है। उनकी यह यात्रा अपने से अपने तक की यात्रा है। यह एक स्थान से दूसरे की यात्रा भर नहीं है बल्कि जो आप में हैं और जो आप होना चाहते हैं, उसी को पाने की यात्रा है। उन्हें कोई सम्पदा नहीं खोजनी, बस आँख खोलने थे, जो उन्होंने जीभर कर खोली है। चेतना के इसी स्तर पर यात्रा, यात्री और गंतव्य सब एक हो जाते हैं। इसीलिए यह अवाक् का आख्यान है।

उनका कवि किसी युक्ति की तरह भाषिक संरचना निर्मित नहीं करता बल्कि एक सांस्कृतिक निर्मिती का रचाव करता है, रचाव भी अनासक्त साधक की तरह। लगाव से परे। तभी तो वे लिख पाती हैं-

‘दिन के दुःख अलग थे
रात के अलग
दुःख जो कोंचते थे दिन में
वे रात में नहीं
जो रात को रुलाते
वे दिन में नहीं
दिन गया नहीं

कि आ जाती थी रात
आ जाते थे
शिकारी।'
एक और उदाहरण देखिए—
'मैं जब तक आई बहार
एकांत से अपने
बदल चुका था
रंग दुनिया का
अर्थ भाषा का
मैं जब तक आई बहार
एकांत से अपने
बदल चुका था मर्म
भाषा का।'

इन काव्य पंक्तियों की
साधारणता तो ऊपरी तौर पर
साफ और स्पष्ट दिखती है, पर
इसकी व्यंजना बहुअर्थगर्भी है। यह केवल
वर्णों का ध्वनि नाद या खेल भर नहीं बल्कि
छोटी-सी दिखने वाली इन कविताओं का
अर्थ संदर्भ गहन अनुभव से सिक्त है।
इसलिए हम देखते हैं कि उनके लिखे शब्द
पन्नों तक नहीं सिमटे रहते वरन संभावनाओं
के अनंत प्राँण में दस्तक देते हैं। ऐसा करते
हुए उनका कवि अपने अप्सर्नल नेचर की
ओर उन्मुख दिखाई देता है। उनका कवि
स्वयं को कविता में विलीन कर लेता है और
खास बात यह कि इस प्रक्रिया में रचनाकार
पाठक के विभेद और दृष्टि भेद से भली-भाँति
परिचित रहते हुए इस प्रक्रिया में शामिल
होता है। इसलिए अर्थ ग्रहण की विभिन्न
परिस्थितियों में कवि अविचल और अटल

भाव से खड़ा रहता है।

इसी के चलते उनके रचना-संसार
में अर्थ किसी संज्ञानात्मक अनुशासन की

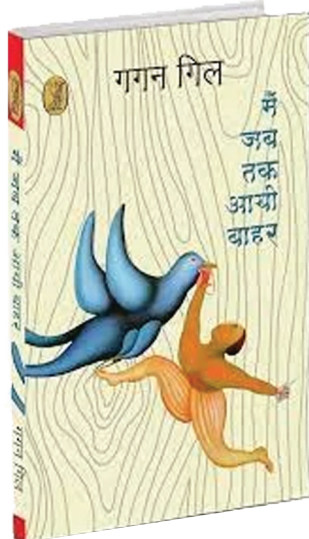
तरह नहीं उभरता बल्कि
हृदय भाव के विस्तार की
प्रक्रिया का हिस्सा बन
जाता है।

उनकी कवि आँख
दैनिक अभ्यास के
विन्यास को तोड़ती हुई
नवीन अनुभव सम्पदा
से संप्रेषण को गति देती
है। इसलिए उनका लिखा
अपना होकर भी नया और
नया होकर भी अपना है।

उदाहरण के लिए—

'थोड़ी-सी उम्मीद चाहिए
जैसे मिट्टी में चमकती
किरण सूर्य की
जैसे पानी में स्वाद
भीगे पत्थर का
थोड़ी-सी उम्मीद चाहिए—
जैसे गूँगे के कंठ में
याद आया गीत
जैसे काँच से चिमटे
कीट की लालसा
जैसे नदी की तह में
दूबी हुई प्यास
थोड़ी-सी उम्मीद चाहिए।'

कविता में आए मिट्टी में चमकती सूर्य
किरण, पानी से भीगे पत्थर का स्वाद, गूँगे



के कंठ में याद आया गीत, काँच में चिमटे कीट की लालसा, नदी की तह में डूबी प्यास किस तरह हमारे दैनिक जीवन की धड़कनों का एक कोरस बनाकर उभरा है।

यह उनके श्रेष्ठ सृजन का प्रमाण है कि वे अव्यक्त की पीड़ा को भी महसूस करती हैं और अपनी संवेदनशीलता और कल्पनाशीलता से मृतप्राय जीवन का न केवल सिंचन करती हैं बल्कि उसका स्पंदन भी उसे लौटाती हैं।

किसी भी कवि के लिए बाहर से जुड़े होते हुए भी भीतर की यात्रा के क्रम में रुकावट न आने देना एक बहुत जटिल और दुरूह कार्य है, पर अपने आवेग, प्रेरणा और प्रज्ञा के संतुलन से वे इसे भी साध लेती हैं।

कोई साहित्य किस कारण सदैव प्राणवान बना रहता है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिस साहित्य के भीतर रमण, दर्शन और अनुभूति की अतः सलिला का प्रवाह निरंतर बहता हो, वही साहित्य देश, काल और वातावरण के परिवर्तनों से अप्रभावित रहते हुए शाश्वत बना रहता है।

गगन गिल अपने भाषा-संसार में किसी कुशल कारीगर की तरह अस्तित्व पर भाषा की छेनी से शब्दों के निरंतर प्रहार कर अभिनव रूपों की सृष्टि हमारे साथ साझा करती हैं। उनके कवि व्यक्तित्व में सार और भाव ग्रहण की अद्वितीयता ही उन्हें शेष हिन्दी परम्परा से अलग करती है। उनको पढ़ते हुए महर्षि अरविंद की यह पंक्ति बार-बार स्मरण में आती है कि कलाओं के मूल में अध्यात्म है

जो दृष्टि, ज्ञान और बुद्धि के संतुलन चालित रहता है। गोस्वामी तुलसीदास की शब्दावली में कहूँ तो वे हृदय सिंधु मति सीप समाना का मूर्त रूप हैं।

स्वीकार बोध और नियति की पहचान उनके काव्य जगत के दो प्रमुख प्रवेश द्वार हैं जिसके सहारे पाठक अपनी यात्रा को सुगमता से सम्पन्न कर सकता है। अच्छी बात यह है कि वे अंतर्मुखी चेतना से सम्पन्न हैं। उनमें अपना दर्शन गढ़ने की कोई आकांक्षा नहीं है वरन वे तो देखने और जानने की जिद से भरी अपनी आत्मखोज में आगे बढ़ती पथिक हैं। आयामों का संधान करते हुए सृजन पथ पर अग्रसर हैं।

गगन गिल अपने रचना-संसार में मानव मन की अतल गहराइयों, जीवन की क्षणभंगुरता और आत्मखोज की संवेदनशील अभिव्यक्त करती हैं। वे अस्तित्व में पल बढ़ रहे जीवन की खोज करने वाली हिन्दी की विरल लेखिका हैं।

गगन गिल की रचनाएँ मानव मन के एकाकीपन, संवेदनशीलता, आंतरिक बेचैनी, तनाव, उत्कंठा, विरह, संदेह, आकांक्षा, शोक और विस्मृति के भावों को उकेरती हैं। ये कविताएँ परम्परागत हिन्दी-कविता के कोष्ठक में नहीं बँधतीं, बल्कि मानव मात्र की गरिमा को साथ लेकर उच्चतर सोपानों की यात्रा करती हैं। पाठक को आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती हैं, जहाँ वे अपने भीतर झाँककर जीवन, प्रेम, एकांत और अस्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर विचार कर सकते हैं। □

आदर्श

बातें जागृति को हैरान करती थीं। ओम, शंकर की प्रताड़ना कैसे सह लेता है? क्यों चाहता है सोम भी सहे? पता नहीं इनके सामाजिक मूल्य क्या हैं? संस्कृति क्या है? आर्थिक कठिनाइयों से ये लोग कैसे जूझते होंगे? लड़कों से शंकर के तेज व्यवहार को लेकर पूछना चाहती थी पर उनका व्यक्तिगत मामला मानकर नहीं पूछती थी लेकिन आज जब साँझ होने लगी और शंकर एक बार भी काम देखने नहीं आया तो वह अपनी जिज्ञासा को न रोक सकी...



सुषमा मुनीन्द्र

ई-मेल : sushmamunindra@gmail.com

शंकर रोज़ की तरह उत्तेजित हाव-भाव दिखाता अचानक आया और पुताई कर रहे ओम और सोम को कदम ताल-सी करते हुए फटकारने लगा -

“ओम, इधर का दीवार पर ब्रश कब फेरेगा? शाम तक कमरा फाइनल करना है। फाइनल कर, फिर एक दफा और फाइनल कर। इतवार तक काम फाइनल करो। केसरवानीजी के बैंगले में काम पकड़ना है।”

फटकार पर ओम शालीन बना रहा। सोम ने मज़ाकिया अंदाज़ से शंकर को देखा। शंकर का कोप बढ़ गया -

“सोम मुझे न देख। काम कर।”

सोम ने सफ़ाई दी, “काम ही कर रहे हैं मामा। रात से देह पिरा रही है, तब भी कर रहे हैं।”

शंकर तुष्ट नहीं हुआ, “सोम, तेरी देह बहुत पिराती है। ओम की नहीं पिराती।”

“अपनी-अपनी देह है मामा।”

“बकवास नहीं। ओम, सोम बेगैरत ठहरा। साम तक कमरा फाइनल करना तेरा जुम्मादारी....

वाक्य पूरा करते-करते शंकर की नज़र हलचल सुनकर वहाँ आ पहुँची जागृति पर पड़ गई। वह तीखे लहजे में नम्रता ले आया -

“बहिनजी, लड़के ठीक काम कर रहे हैं न? मैं चाहता हूँ काम ऐसा फाइनल हो कि आपको शिकायत न रहे।”

“शंकर, लड़के अच्छा काम कर रहे हैं। रोज़ एक कमरा तैयार कर देते हैं।”

शंकर ने गौरव में भरकर जागृति को देखा, फिर हिकारत से लड़कों को देखा, “हुनर दिखाओ। फाइनल

करो। फटाफट।”

शंकर प्रत्येक कोट को फाइनल कहता है। पहला कोट हो, दूसरा या अंतिम। वह जिस तेजी से आया था लड़कों को फटकार कर उसी तेजी से चला गया। इधर सोम, ओम को देखकर हँसा—

“भाई, यह तूफान मेल कब आएगा, कब जाएगा, नहीं मालूम।”

ओम गम्भीर बना रहा, “सोम, हँस मत। काम कर।”

“ठीक कहते हो भाई। साम को मामा फिर राउण्ड लेने आएगा और कहेगा सुरिज (सूर्य) अस्त हो गया लेकिन काम फाइनल नहीं हुआ। मामा नौद में भी फाइनल, फाइनल करता होगा। चाहे जै बार फाइनल करो, ये खुश नहीं होता।”

जागृति लड़कों की बातचीत सुन रही थी, ये दोनों शायद शंकर की दुत्कार के आदी हैं। इसीलिए दुत्कार को दिल से नहीं लगाते।

शंकर, जागृति के घर का स्थायी पुतइया है। कुछ साल हुए जागृति के पति कौशिकजी ने चिरहुला ट्रेडर्स (रंग-रोगन की दुकान) में कहा था पेन्टर चाहिए। काम पाने की उम्मीद में पुतइया उस दुकान से सम्पर्क बनाए रखते हैं। एक सुबह शंकर फुर्तीली गति से पैदल आया था (अब उसकी हैसियत में सेल फ़ोन और साइकिल जुड़ गई है)। आते ही तेज आवाज़ में बोलने लगा था -

“नमस्ते साब। मैं संकर। चिरहुला ट्रेडर्स में आप बोले थे पेन्टर चाहिए। काम कब से सुरू कर दूँ ? आप दुकान में पता कर लो संकर कैसा ईमानदार और मेहनती है।”

कौशिकजी ने जानकारी ली, “पर डे क्या लेते हो?”

अब शंकर पाँच सौ रुपया प्रतिदिन लेता है, तब रेट कम था।

“डेढ़ सौ रुपिया पर डे। काम फाइनल करके दूँगा। एक दिन मैं एक कमरा फाइनल। सामान निकालना, साफ-सफाई, फिर सामान जमाना, सब मेरा जुम्मा। कहेंगे तो पेंट का सामान भी ले आऊँगा। बाद में आप चिरहुला ट्रेडर्स में इकट्ठा पेमेंट कर देना।”

“मेहनताना अधिक बता रहे हो।”

“काम देखिए फिर दाम दीजिए।”

“देखें तुम्हारा काम।”

दूसरे दिन शंकर ओम को साथ लेकर आ गया। कौशिकजी ने ओम को लेकर प्रश्न किया -

“ये लड़का भी काम करेगा?”

“हाँ, साब।”

“इसे भी मजदूरी देनी है?”

“काम का दाम लेंगे साब।”

“मुझे लगा तुम अकेले एक दिन में एक कमरा तैयार करोगे।”

“अकेले कैसे होगा? इतना बड़ा-बड़ा सामान अकेले कैसे उठा लूँगा? आप कितना रुपया बड़ी-बड़ी दुकानों में फ़ालतू दे आते होंगे। दुकानदार उगता है लेकिन आपको पता नहीं होता। हम तो काम का दाम लेते हैं।”

“चलो, शुरू करो।”

शंकर ने फुर्ती दिखाई, “ओम, कमरे का सामान फटाफट निकलवा। जाले उतार। रूम आज ही फाइनल करना है। साब, आप बेफ़िक्र रहें। मैं ओम को बड़ा ट्रेंड किया हूँ। आप देखेंगे यह अच्छा काम करता है।”

दोनों ने मिलकर साँझ होने तक कमरा तैयार कर दिया। बड़े हुनर से दीवारों पर ब्रश चलाया गया था। कमरे में सचमुच निखार आ

गया था। जागृति ने सराहना की थी -

“शंकर, काम अच्छा है।”

शंकर का चेहरा थोड़ा चमचमाने लगा, “बहिनजी, ऐसा फाइनल काम किया हूँ कि तीन साल तक पेन्ट कराने का जरूरत न होगा।”

साफ़-सफ़ाई में काफ़ी कबाड़ निकला। ओम चकित होकर कबाड़ देख रहा था, “मामा, यह देखो रस्सी। लल्ली रस्सी कूदेगी। फुटबाल की मरम्मत करा देना। गोप खेलेगा। इस बोतल में सरसों का तेल, इस डिब्बे में किरासिन लाएँगे ...ओ रे। सलमान खान का फ़ोटू ...मैं सामने के दरवाज़े पर चिपकाऊँगा। यह टोपी...” ओम की खुशी देख जागृति को कौतुक हुआ था। मामूली चीज़ों को लेकर यह कितना उत्सुक है। सम्पन्न वर्ग के लिए जो निरर्थक हो गया है, इस वर्ग के लिए सार्थक है। चीज़ें इसी तरह अपना वजूद बनाए रखती हैं। शंकर को लगा लालच दिखाकर ओम बेवकूफ़ी कर रहा है।

“ओम, कबाड़ बोरे में भर और चल।”

ओम को फटकारकर शंकर, जागृति से बोला, “बहिनजी, जब भी पुताई करानी हो चिरहुला ट्रेडर्स में खबर करेंगी। मैं हाज़िर हो जाऊँगा।”

“ठीक है शंकर।”

फिर तो वह दीपावली पर हर साल पूछने चला आता। काम न हो तो अगले साल आने का आश्वासन देकर लौट जाता -

“बहिनजी, काम मैं ही करूँगा। आप दूसरे को काम न देना। ज़माना खराब है। हर किसी पर भरोसा करना ठीक नहीं।”

“ठीक कहते हो।”

और इस बार भी शंकर, जागृति के घर में रंग-रोगान कर रहा है। दो दिन उसने और

ओम ने काम किया। तीसरे दिन सोम को ले आया, “बहिनजी, एक सेट के यहाँ दो-चार दिन का काम है। कर दूँ। सेट को किसी और का काम पसन्द नहीं है। मैं, ओम की तरह सोम को भी ट्रेड किया हूँ। आपका काम फाइनल होगा, यह मेरा जुम्मा है। आपको इनका काम अच्छा न लगे तो मैं फाइनल करूँगा। वैसे एक-दो राउण्ड रोज़ आऊँगा।”

जागृति को आश्चर्य कर उसने ओम और सोम को चेतावनी दी, “शिकायत मिलेगी तो पानी में भिगो-भिगोकर जूता मारूँगा। चोट लगेगी और आवाज़ न होगी। मैं इज़्जतदार आदमी हूँ। बड़े-बड़े बँगले में काम करता हूँ। समझे।”

ओम समझ गया, सोम को नहीं समझना था, इसलिए नहीं समझा। शंकर के जाते ही ओम से बोला,

“भाई, मामा नहीं सुधरेगा।”

“सोम, काम कर। बकवास न कर।”

“मैं बकवास करता हूँ। मामा के मुँह से फूल झड़ते हैं।”

“सोम, मामा हमको काम देता है। तू नहीं जानता काम मिलना कितना मुसकिल है। काम मिले तो सही दाम नहीं मिलता। मामा के कारण हमको काम और सही दाम मिलता है।”

“अभी काम दे रहा है। किसी दिन मारी जान ले लेगा।”

बातें जागृति को हैरान करती थीं। ओम, शंकर की प्रताड़ना कैसे सह लेता है? क्यों चाहता है सोम भी सहे? पता नहीं इनके सामाजिक मूल्य क्या हैं? संस्कृति क्या है? आर्थिक कठिनाइयों से ये लोग कैसे जूझते होंगे? लड़कों से शंकर के तेज़ व्यवहार को लेकर पूछना चाहती थी पर उनका व्यक्तिगत

मामला मानकर नहीं पूछती थी लेकिन आज जब साँझ होने लगी और शंकर एक बार भी काम देखने नहीं आया तो वह अपनी जिज्ञासा को न रोक सकी -

“शंकर एक-दो बार आता है। आज नहीं आया। शंकर का उल्लेख सुन सोम हँसने लगा, “नहीं आए तभी शान्ति से काम हुआ।”

“कहीं बाहर गया है?”

सोम की हँसी बढ़ गई, “नहीं बहिनजी। मामा रात में खूब खा लिए होंगे, पेट में दर्द हो गया होगा। पड़े होंगे घर में।”

“खूब खा लिए होंगे। मतलब?”

“बड़े-बड़े बँगले में पुताई करते हैं। कभी-कभार कोई साहब गृह प्रवेश पर इन्हें बुला लेते हैं। ये तीस-चालीस पूड़ी डकार लेते हैं। कहते हैं मुफ्त का ज़हर मिले तो वह भी खा लेना चाहिए।”

“अजीब आदमी हैं।”

“बहुत अजीब। घर में कोई बीमार हो जाए तो उसका बचा हुआ टॉनिक मामा एक साँस में पूरा पी जाते हैं कि फ़ायदा करता है।”

“उसे फ़ायदा करता है, जिसे ज़रूरत है।”

“मामा को कौन समझाए। वे खुद से किसी को नहीं मानते। हम दोनों भाइयों को सूली पर टाँगे रहते हैं। हमारे छोटे भाई गोप को ज़रूर मानते हैं।”

“तुम लोग शंकर के साथ रहते हो?”

सोम की बकवास को रोकने के उद्देश्य से उत्तर ओम ने दिया, “हाँ, वे हमारे सगे मामा हैं।”

“बहुत गुस्सैल हैं।”

ओम ने खंडन किया, “गुस्सैल हैं पर दिल के नरम हैं। बहिनजी, उन्होंने ही हम चार

भाई-बहिन को जिन्दा रखा। हम छोटे थे तब घर की कलह के कारण हमारी अम्मा आग लगाकर मर गई। बाप शराबी-जुआड़ी। नाना हम लोगों को अपने गाँव सिजहटा ले आए। उधर बाप ने दूसरी शादी कर ली। बोला हम लोगों को कबूल नहीं करेगा। दोनों बड़े मामा और मामियों ने हँगामा किया। नाना से बोले इन बिलौटों (बिल्ली के बच्चे) को उठा लाए हो, कौन खिलाएगा? शंकर मामा ने हमारी जुम्मादारी ली। शादी नहीं की कि आने वाली हम लोगों को रखे, न रखे।”

सोम हँसा, “शादी करते, यदि होती। कजहा (शादी का प्रस्ताव लेकर आने वाले) हम भाई-बहिन को देखकर भाग जाते थे।”

ओम, शंकर का वफ़ादार सिपाही है। ओम, “हम पर मामा का एहसान है।”

“का एहसान है? रात में बोतल चढ़ा कर गरियाता है, तुम लोगों के कारण मैंने घर न बसाया।”

“ठीक कहते हैं। हमारे कारण उनका घर नहीं बस पाया। बहिनजी, मामा हमारी बहिन लल्ली की शादी किए। शादी में जो करजा लिया, मामा आज भी चुका रहे हैं। गोप पढ़ाई में अच्छा है। उसे पढ़ा रहे हैं। हम लोगों के लिए चार कमरे का मकान बनवा दिए हैं। मामा दिनभर मेहनत करते हैं। रात में दारू पीने से उनका कलेजा ठंडाता है तो बुरा नहीं है। आदमी को कुछ खुशी तो चाहिए।”

सोम यूँ हँसा जैसे हँसना उसकी फ़ितरत है, “भाई, तुम्हारी शादी होने वाली है। भाभी, मामा को दारू पीकर बर्ता देखेगी तो क्या सोचेगी?”

“बता दूँगा, मामा का हम पर एहसान है।”

“ऐसा फटकारते हैं। एहसान मिट्टी हो जाता है।”

तो यह है यथार्थ।

जागृति को कल्पना नहीं थी मामूली लोग भी आदर्श रच सकते हैं।

अगले दिन आते ही शंकर चीख रहा था, “बस, एतनय काम हुआ? सोते हो, खाते हो, खीस निपोरते हो, क्या करते हो? जल्दी हाथ चलाओ। शाम तक काम फाइनल चाहिए।”

सोम ने आनंद लिया, “मामा, काम तो रोज फाइनल हो जाता है।”

जागृति को लगा शंकर का गुस्सा, ओम की वफ़ादारी, सोम का हँसना नियमित क्रियाएँ हैं जो इनकी पहचान बन गई हैं।

शंकर भड़क गया, “सोम मुझे बातों में न लपेट। काम कर।”

जागृति ने हस्तक्षेप किया, “शंकर, लड़के अच्छा काम कर रहे हैं।”

शंकर के मुख पर गौरव झलक आया, “मैंने ट्रेड किया है बहिनजी। काम तो अच्छा करेंगे ही।”

“लड़कों ने बताया तुमने इन्हें पाला-पोसा है।”

“इनका क़र्ज़ा खाया था जो...।” इतना कहकर शंकर के लहजे में एकाएक नरमी आ गई, “लड़कों ने राम कहानी बता दी? बुरा समय था बहिनजी। मेरी बहिन को ससुराल में दुःख था। जल गई, जलाई गई, क्या मालूम! मैं जीजा को कोरट-कचहरी में घसीटता पर मेरे पिताजी डरपोक थे। मेरी भौजाइयाँ अलग जल्लाद, बोलों, बिलौटों को रोटी कौन देगा? मैंने कहा, मैं दूँगा। रंगाई-पुताई करना हमारा पेसा है। दूसरा बिजनेस (काम) नहीं जानते।

सिजहटा में इतना बिजनेस नहीं था कि चार बच्चों को पाल लूँ। शहर चला आया। काम नहीं मिल रहा था। अब इतना काम है कि सम्भाल नहीं पाता हूँ। पक्का मकान बनवा लिया हूँ। लड़कों को पेन्ट-पुताई सिखा दिया हूँ कि मेरे बाद इन्हें दिक्कत न हो। डपटता रहता हूँ कि काम करने, मेहनत करने की आदत डालें। काम अच्छा करेंगे, तभी लोग काम देंगे। काम न करने वाले की बरक्कत नहीं होती।”

जागृति, शंकर को स्थिर नज़र से देखती रह गई। शंकर के चेहरे में इस वक़्त क्रोध के नहीं, संतोष के भाव हैं। सचमुच। बनाया है, इसने आदर्श। क्या हुआ जो इसके आदर्श की किसी को ख़बर नहीं हुई।

यह कभी किसी अख़बार की सुर्खी नहीं बना। पुरस्कृत-सम्मानित नहीं हुआ। इसके पास कुछ भी उल्लेखनीय नहीं है लेकिन जो है इसकी अपेक्षा और कल्पना से अधिक है। इस ब्रह्मांड का बहुत छोटा-सा हिस्सा ही सही, पर इसने कड़ी मेहनत से अपनी बहन के बच्चों के लिए सुरक्षित कर दिया है। अनंत आकाश का एक टुकड़ा इनका भी है। अनंत काल के कुछ क्षण इनके भी हैं। एक विषम बिन्दु से लाकर इसने बच्चों को जिस पड़ाव पर खड़ा किया है, प्रतिस्पर्धा के इस दौर में वह पड़ाव छूट न जाए, ऐसे किसी डर से यह लड़कों पर दबाव बनाए रखना चाहता है। अनुशासित करना चाहता है। शायद यही इसकी पहली और आखिरी चिन्ता है।

“अच्छा बहिनजी चलता हूँ।”

जागृति, जाते हुए शंकर को देखती रही। लगा वायुमण्डल में उसकी तेज़ आवाज़ ठहर-सी गई है... चल फाइनल कर...। □



फर्डिनैंड लहोली

फर्डिनैंड लहोली का जन्म 1960 में लुशंजे के दलदली मैदान में एक नज़रबन्दी शिविर में हुआ। उनके जन्म के 15 दिन पहले उनके पिता अल्बानिया से भाग निकले। लहोली और उनके बने परिवार को लोगों का दुश्मन घोषित कर दिया गया और उन्हें सामान्य शिक्षा, आवास और नौकरियों की सुविधा के बिना 30 वर्ष के लिए नज़रबन्द शिविर में भेज दिया गया। लहोली अल्बानियाई साहित्य में कवियों की एक नई पीढ़ी के प्रतिनिधि हैं। उन्हें साहित्यिक प्रशिक्षण और शिक्षा का लाभ नहीं मिला लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि वे स्वतन्त्र रूप से अपनी वास्तविक भावना को व्यक्त करते रहे।

अनुवाद

बालकृष्ण काबरा 'एतेश'



ई-मेल : balkrishna.kabra2@gmail.com

फर्डिनैंड लहोली की कविताएँ

दिखावा

डर लगता है मुझे
सुनने और देखने से
डर लगता है तुम्हें
सुनने और देखने से
डर लगता है उन्हें
देखने और सुनने से
हम सभी करते दिखावा
कि सब जानते हम
दुनिया के बारे में।

हम हैं छायार्

अपनी अज्ञानता से
जकड़े
हम हैं छायार्
शायद इंसान थे हम कभी
अब ले ली है उसकी जगह
छायाओं ने

यह समय

प्रतीक्षा के सूरज से
मेरे सपनों की क्रीड़ा
कट-फट गई है
मेरी त्वचा
करती है महसूस

चुभन
अभाव की।

वर्कर्स पार्टी अल्बानिया

हमारे सपनों के लिए
आता है हत्यारा

भूलने की बीमारी से ग्रस्त
उसे पसन्द नहीं हैं
लाशें।

सेवरा नज़रबंदी शिविर

(जहाँ फर्डिनैंड लहोली ने अपने जीवन के प्रथम 30 वर्ष
बिताए।)

यहाँ आप डरते हैं
बोलने से

डरते हैं
चुप रहने से

डरते हैं
मुस्कुराने से

डरते हैं
दुःखी होने से

डरते हैं आप
यहाँ नहीं डरने से।

यहाँ

मौत की आँख है
यहाँ कानून
घेरे हुए
समूचे अल्बानिया को

लोग यहाँ
दुबकते हैं
बड़ी कायरता से
कि उन पर
न जाए कभी ध्यान।

डर

डर करता है
उजागर
गलती की
गहरी खाई को
डर से खुद को
बचाने के लिए।

दर्द

खुद को शान्त करने
मैंने पीट लिया
अपना सिर
और अब होता है दर्द
इस सहनशक्ति से।

पत्तों की आत्महत्या

वे चाहते
हो जाएँ पीला
और अब वे
झरते
एक-एक करके
रोते हुए। □

उस्ताद जाकिर हुसैन की संवेदनशीलता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है कि शुरुआती दिनों में ट्रेन में जनरल कोच में यात्रा करते तबले पर किसी का पैर न लगे, इसके लिए वह तबले को अपनी गोद में लेकर ही सो जाते थे। कामयाबी की तमाम मंजिलें पाने के बाद भी उस्ताद जाकिर हुसैन का अपने तबले की प्रति वही आदर हमेशा बना रहा। उस्ताद जाकिर हुसैन ऐसे कलाकार थे, जो मंच पर अपना तबला खुद ही लेकर पहुँचते थे।



राजेन्द्र शर्मा

ई-मेल : pratibimb22@gmail.com

शून्य जो कभी भरा नहीं जा सकेगा

अपनी जादुई उँगलियों से ऐसी बेमिसाल थाप, जिसकी तिहाई पर दुनिया रुक जाती थी और ठेके पर उठ जाती थी, देने वाले उस्ताद जाकिर हुसैन इडियोपैथिक पल्मोनरी फ़ाइब्रोसिस नामक बीमारी से लड़ते-लड़ते अंततः 15 दिसम्बर, 2024 को हमसे बिछुड़ गए। यह संयोग ही कहा जाएगा कि जो लोग संगीत का 'सा' भी नहीं जानते थे, वह भी घुँघराले बालों वाले सूफ़ी तबीयत इस मस्तमौला शख्सियत के दीवाने थे, जिनका उनसे परिचय आठवें दशक में चाय के एक विज्ञापन से हुआ था। चाय के इस विज्ञापन से संगीत की दुनिया से इतर के आम लोग इस उस्ताद को जानने लगे थे, क्या बच्चे, क्या बूढ़े! तबले पर लयबद्ध थिरकती उँगलियाँ, हथेलियों की वह थाप और सबसे ज़्यादा आकर्षित करते हवा में धीमी गति में झूलते उड़ते बाल और मोहक मुस्कान...। किसी बड़ी हस्ती के इस फ़ानी दुनिया से जाने पर एक बड़ा-सा शून्य उभर आया है, कहने का चलन-सा है लेकिन उस्ताद जाकिर हुसैन के लिए यह कथन शत-प्रतिशत सच दिखाई देता है, ऐसा शून्य जिसकी भरपाई कभी नहीं हो सकेगी।

73 साल पहले 9 मार्च, 1951 को ख्यात तबला वादक उस्ताद अल्लारक्खा कुरैशी के घर-आँगन में जन्मे जाकिर हुसैन की माँ बीबी बेगम ने जब डेढ़ दिन के नवजात को पिता अल्लारक्खा की गोद में सौंपा तो पिता उस्ताद अल्लारक्खा ने नन्हे जाकिर के कान में गणेश-परन के बोल बोले थे -



ज़ाकिर हुसैन

‘गणानाम गणपति गणेश
लम्बोदर सोहे भुजा चार
इकदंत चन्द्रमा ललाट राजै
ब्रह्मा विष्णु महेश ताल देत ध्रुपद गावैं
अति-विचित्र गणनाथ आज मृदंग
बजावैं।’

परिवार की परम्परा के अनुसार नन्हे शिशु के कान में अज्ञान पढ़नी होती थी परन्तु पिता उस्ताद अल्लारक्खा के गणेश-परन के बोल बोलने पर माँ बीबी बेगम ने गुस्से में उस्ताद अल्लारक्खा से कहा कि यह तुम क्या कर रहे हो? उस्ताद अल्लारक्खा ने तुरन्त जवाब दिया, “मैं देवी सरस्वती और भगवान गणेश का उपासक हूँ। यही मेरा आशीर्वाद और यही मेरी प्रार्थना है।”

जिस डेढ़ दिन के बच्चे को अपने पिता

से गणेश-परन के बोल मिले हों, वह तबला का उस्ताद ज़ाकिर हुसैन ही हो सकता था। ज़ाकिर का बचपन पिता के तबले की थाप सुनते ही बीता और पिता ने तीन साल की उम्र में ज़ाकिर को भी तबला थमा दिया। पिता से मिले इस आशीर्वाद ने ज़ाकिर हुसैन को तबले का दीवाना बना दिया। उनकी सुबह-शाम, दिन-रात सब कुछ तबला ही था। छुटपन में वे कोई भी सपाट जगह देखकर उँगलियों से धुन बजाने लगते थे। रसोई में माँ खाना बना रही है और बालक ज़ाकिर तवा, हाँडी और थाली, जो भी मिलता, उसी पर अपनी उँगलियों की थाप देने लगता।

ज़ाहिर है इस दीवानगी का नतीजा बेहतर ही निकलना था। 12 साल की उम्र में पंडित रविशंकर, उस्ताद अली अकबर खान,



अपनी पत्नी के साथ जाकिर हुसैन

बिस्मिल्लाह खान, पंडित शान्ता प्रसाद और पंडित किशन महाराज जैसे संगीत की दुनिया के दिग्गजों की मौजूदगी में बालक जाकिर हुसैन ने अपने पिता के साथ अपने जीवन के पहले कॉन्सर्ट में भाग लिया जिसमें बतौर इनाम उन्हें पाँच रुपये मिले। अपने 73 साल के जीवन में अपने हुनर के दम पर एक कंसर्ट के लिए दस लाख रुपये तक फ्रीस लेने वाले उस्ताद जाकिर हुसैन 61 साल पहले बतौर इनाम मिले पाँच रुपये को कभी नहीं भूल पाए। उस्ताद अक्सर कहा करते थे, “मैंने अपने जीवन में बहुत पैसे कमाए, लेकिन वे पाँच रुपये सबसे कीमती थे।”

उस्ताद जाकिर हुसैन की संवेदनशीलता का इससे बड़ा उदाहरण और क्या हो सकता है कि शुरुआती दिनों में ट्रेन में जनरल कोच में यात्रा करते तबले पर किसी का पैर न लगे, इसके लिए वह तबले को अपनी गोद में लेकर ही सो जाते थे। कामयाबी की तमाम मंजिलें पाने के बाद भी उस्ताद जाकिर हुसैन

का अपने तबले की प्रति वही आदर हमेशा बना रहा। उस्ताद जाकिर हुसैन दुनिया के अकेले ऐसे कलाकार थे, जो मंच पर अपना तबला खुद ही लेकर पहुँचते थे।

साल 1960 की ऐतिहासिक फिल्म ‘मुगल-ए-आज़म’ के निर्माता-निर्देशक के. आसिफ़ चाहते थे कि जाकिर हुसैन इस फिल्म में सलीम के छोटे भाई की भूमिका अभिनीत करें लेकिन पिता उस्ताद अल्लारक्खा जानते-समझते थे कि उनके बेटे की दुनिया तबला ही है, उन्होंने निर्माता के. आसिफ़ को विनम्रता से मना कर दिया। यह अलग बात है कि अपने दोस्त अभिनेता शशि कपूर के आग्रह को जाकिर हुसैन टाल नहीं पाए और वर्ष 1983 में ब्रिटिश फिल्म ‘हीट एण्ड डस्ट’ में शशि कपूर के साथ काम किया। जाकिर हुसैन ने 1998 की एक फिल्म ‘साज़’ में भी शबाना आज़मी के साथ काम किया था।

बीते पाँच दशक से विदेश में रहने के बावजूद उस्ताद जाकिर हुसैन विशुद्ध भारतीय ही बने रहे। गुरु-शिष्य परम्परा का इससे बेहतर उदाहरण और क्या हो सकता है कि उस्ताद जाकिर हुसैन को पद्म विभूषण देने की घोषणा हुई तो उन्होंने यह कहकर सम्मान लौट दिया कि, “जब मेरे गुरु समान किशन महाराज को अब तक यह सम्मान नहीं मिला तो मैं कैसे ले सकता हूँ!” उस्ताद के यह शब्द अपने ‘उस्ताद’ के लिए थे। अंततः किशन महाराज को पद्म विभूषण मिलने के बाद ही, अगले वर्ष उस्ताद जाकिर हुसैन ने इस सम्मान को स्वीकार किया। गुरु के प्रति शिष्य का इस तरह का सम्मान, भारतीय गुरु-शिष्य परम्परा की एक उपलब्धि है।

उनकी साधना में कहीं कोई अवरोध उत्पन्न न हो, इसी सोच के तहत ही उस्ताद ज़ाकिर हुसैन ने 1978 में कथक नृत्यांगना एंटोनियो मेलाकोना से विवाह किया। उल्लेखनीय है कि एंटोनियो मेलाकोना ने तीन दशक तक ख्यात नृत्यांगना सितारा देवी के सान्निध्य में रहकर कथक सीखा था। पिता उस्ताद अल्लारक्खा से मिले संस्कार ही थे कि उस्ताद ज़ाकिर हुसैन ने अपने विवाह की रस्म मुस्लिम रीति, ईसाई रीति और विधिक रूप से कोर्ट में की थी।

भारत के शास्त्रीय संगीत के दिग्गजों से लेकर मशहूर ड्रमर माइकल हार्ट और ग्रेट गिटारिस्ट पैट मार्टिनो के साथ उनकी जुगलबंदी नायाब रही लेकिन पंडित शिव कुमार शर्मा के साथ उनकी जुगलबंदी का कोई तोड़ नज़र नहीं आता। जानकार बताते



साज़ को मंच पर ले जाते हुए

हैं कि ढाई साल पहले 14 मई, 2022 को पंडित शिवकुमार शर्मा के दाह संस्कार के समय उस्ताद ज़ाकिर हुसैन की जो अवसाद मुद्रा दिखाई दी, वह उनकी साँसों तक बनी रही।

अपने हुनर के दम पर तबले को वैश्विक मंच पर स्थापित कर अपनी जादुई उँगलियों की बदौलत बेजोड़ लय से दुनिया भर को मंत्रमुग्ध करने वाले उस्ताद ज़ाकिर हुसैन को 1988 में पद्मश्री, 2002 में पद्म भूषण और 2023 में पद्म विभूषण से नवाज़ा गया। उन्हें 2009 में पहला ग्रैमी अवॉर्ड मिला था। 2024 में उन्होंने तीन अलग-अलग एल्बम के लिए तीन ग्रैमी भी जीते। इस तरह ज़ाकिर हुसैन ने कुल चार ग्रैमी अवॉर्ड अपने नाम किए जो अपने-आप में एक रिकार्ड है।

ज़ाकिर हुसैन के निधन के साथ हमने केवल एक महान कलाकार को नहीं खोया बल्कि एक शाश्वत आत्मा को खोया है, एक ऐसे संगीतज्ञ को जिसकी युवा उत्साह और आनंदमय कला ने तबले को नृत्य, गान और उड़ान दी। उनके जाने से जो सन्नाटा छा गया है, वह असीम और अवर्णनीय है। फिर भी, उनके स्वर और लय उन सभी के हृदयों में सदा गूँजते रहेंगे, जिन्होंने उन्हें सुनने का सौभाग्य पाया, उनकी अद्भुत प्रतिभा और आत्मा की चिरस्थायी याद के रूप में।

तबले का कोई मन्दिर बने तो उसके चार प्रमुख स्तम्भ होंगे— पंडित किशन महाराज, उस्ताद अल्लारक्खा, पंडित कंठे महाराज, पंडित सामता प्रसाद (गुर्दा महाराज) और उस मन्दिर की चोटी पर विराजमान चमकता कलश होंगे उस्ताद ज़ाकिर हुसैन। □

विदूषक नायक का प्रमुख विश्वासपात्र तथा उसके प्रेम भरे व्यवहार में सदा साथ देने वाला पात्र होता है। मनोविनोद की कला में निपुण विदूषक अपने उलट-पुलट वाक्यों एवं छोटी या लम्बी क्रद-काठी के साथ-साथ अपनी अलग ही वेशभूषा के चलते दर्शकों को हँसी के ठहाके लगाने को विवश कर देता है। वह अपनी विभिन्न भाव-भंगिमाओं के माध्यम से हास्य का दृश्य उपस्थित कर मानो आमजन को खुशी से झूमने को बाध्य कर देता है।



शंकरलाल शास्त्री

ई-मेल : drslshastri07@gmail.com

संस्कृत के नाटकों में विदूषक

हमारे प्राचीन वाङ्मय में काव्यों में 'नाटक' को सर्वोत्कृष्ट सिद्ध किया है 'काव्येषु नाटकं रम्यं' क्योंकि नाटक में प्रत्यक्षतः नेत्रों के माध्यम से जो दृश्य हम देखते हैं, प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। वस्तुतः नाटक दर्शकों के हृदय में आनन्द की असीम अनुभूति कराता है।

नाट्य-कौशल की चरम सीमा का रहस्य भी विभिन्न सन्दर्भों से जुड़ा है— 'नाटकान्तं कवित्वं'। रूपक के प्रायः दस भेदों— नाटकमथ प्रकरणं।।। प्रहसनमिति रूपकाणि दश। यहाँ नाटक को सर्वोपरि रूप में स्वीकारते हुए नाटक का महत्व स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार रूपक का ही एक भेद प्रहसन यानी हास्यपरक रचनाओं से रहा है। यहाँ लटकमेलकम् व मत्तविलासः जैसे प्रहसन गिनाए जा सकते हैं।

नाटकों में विदूषक परम्परा केवल संस्कृत में ही नहीं बल्कि विभिन्न भाषाओं में हास्यपरक दृश्य उपस्थित कर नाटक में एक विशेष पात्र को स्थान दिया गया है जिसे हम 'विदूषक' के नाम से जानते हैं। साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने विदूषक की परिभाषा सिद्ध करते हुए लिखा है—

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।

हास्यकरः कलहरहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः

(‘साहित्य दर्पण’ 3।42)

अर्थात् जो अपनी विचित्र वेशभूषा, ऊटपटाँग कार्यों, देह की विभिन्न मुद्राओं एवं भाषा के माध्यम से

हँसाने वाला पात्र हो, जिसका नाम किसी पुष्प व ऋतु आदि पर आधारित हो जैसे—कुसुम, वसन्तकादि। साथ ही जो मनोविनोद में पारखी हो तथा नायक-नायिकादि में कभी-कभी तकरार कराने में प्रवीण हो एवं अपने बुद्धि-कौशल से यथासमय मूर्खतापूर्ण व्यवहार कर दर्शकों को हँसी से लोट-पोट करे, नाट्य साहित्य में उसे 'विदूषक' नाम से अभिहित किया जाता है। विशेषकर विदूषक अपने पेटूपन यानी खान-पान के प्रति सजग रहता है और स्वादिष्ट खान-पान का एक भी अवसर व्यर्थ में नहीं जाने देना चाहता है। विदूषक नायक का प्रमुख विश्वासपात्र तथा उसके प्रेम भरे व्यवहार में सदा साथ देने वाला पात्र होता है। मनोविनोद की कला में निपुण विदूषक अपने उलट-पुलट वाक्यों एवं छोटी या लम्बी क़द-काठी के साथ-साथ अपनी अलग ही वेशभूषा के चलते दर्शकों को हँसी के ठहाके लगाने को विवश कर देता है। वह अपनी विभिन्न भाव-भंगिमाओं के माध्यम से हास्य का दृश्य उपस्थित कर मानो आमजन को खुशी से झूमने को बाध्य कर देता है, सिर से गंजा व हाथ में टेढ़ा-सा डंडा लिए एक ब्राह्मण जो राजा किंवा नायक का अनन्य मित्र एवं नर्मसचिव के रूप में जाना जाता है। नाटकों में वह विदूषक के रूप में अपनी विशिष्ट पात्रता का निर्वहन करता दिखाई देता है।

भास का वसन्तक (विदूषक)

1919 ई. में टी. गणपति शास्त्री ने अपनी खोज में भास के 13 रूपकों का उल्लेख कर सर्वप्रथम नाटककार भास का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। नाटककार भास विरचित 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटक के चतुर्थ अंक में विदूषक का

नाम 'वसन्तक' के रूप में लिया गया है। वासवदत्ता के जल मरने के समाचार ने तो राजा उदयन को विरह के शोक सागर में ही डुबो दिया था और अपने नायक की पीड़ा को विदूषक अपनी पीड़ा मानकर वह भी इस विरह रूपी कालखण्ड को व्यतीत करता है किन्तु समय सदा एक-सा नहीं होता। राजा उदयन का विवाह पद्मावती से हो जाने पर विदूषक अपने स्वभाववश सर्वप्रथम भोजन का जिक्र करते हुए कहता है -

“प्रकृतिमधुरसुकुमाराणिमोदकखाद्यान् नि खाद्यन् इति...। एकः खलु महान् दोषः ममाहारः सुष्ठु न परिणमति।”

यानी इस समय तो स्वादिष्ट लड्डू आदि खाद्य पदार्थों को खाया जा रहा है। इस प्रकार मेरे द्वारा (विदूषक के द्वारा) मात्र अप्सराओं के सहवास से रहित स्वर्गीय सुख भोगा जा रहा है किन्तु एक बड़ा भारी दोष यह है कि मेरा भोजन भली प्रकार से पचता नहीं है जिसके कारण मुझे कोमल शय्या पर भी नींद नहीं आती है। दासी के पूछने पर विदूषक भोजन के अतिरिक्त सब कुछ लाने की हामी भर देता है।

“अधन्यस्य मम कोकिलानामक्षिपरिवर्त इव कुक्षिपरिवर्तः संवृतः।”

अर्थात् मुझ अभागे के पेट में ऐसा उलट-फेर हो रहा है जैसाकि कोयल की आँख में होता है। यानी जिस प्रकार से कोयल की आँख ऊपर-नीचे घूमती है, ठीक उसी प्रकार वातव्याधि के कारण विदूषक यानी वसन्तक की पेट की पाचन क्रिया गड़बड़ा गई थी। ऐसे में दासी भी खाने के शौकीन वसन्तक को टोकती नज़र आती है।

प्रमदवन में राजा, विदूषक से कहता है, “उस समय उज्जैन जाने पर वासवदत्ता

को देखकर विशेष अवस्था को प्राप्त हुए मुझ पर कामदेव ने एक साथ पाँचों बाणों (अरविंद, अशोक, आम्रमंजरी, चमेली व नीलकमल) से बंध दिया था जब कामदेव (प्रेम का देवता) के पाँच ही बाण हैं तो फिर यह छठा बाण कहाँ से मारा गया है।”

जब कामदेव फूलों के बाणों से नायक-नायिका पर प्रहार करते हैं तो वे प्रेम में एक-दूसरे के लिए अधीर हो जाते हैं। यहाँ राजा अपने मित्र वसन्तक को यही प्रणय भरा गूढ़ रहस्य बतलाते हुए कहता है कि जब वासवदत्ता को देखा गया तो कामदेव ने पाँचों बाण एक साथ फेंक दिए फिर पद्मावती को देखने पर यह छठा बाण कहाँ से आ लगा? यही भाव हम बड़े पर्दे पर भी देख सकते हैं। फ़िल्मों में फ़िल्माए जाने वाले बहुत-से रोमांचित कर देने वाले दृश्यों में नायक-नायिका के प्रेमालाप के साथ-साथ नायक का एक सच्चा साथी उसकी प्रत्येक स्थितियों से परिचित होता है। नाटकों में ‘विदूषक’ नामक महत्वपूर्ण पात्र का यह कार्य विशेषतः अंकनीय इसलिए भी है कि इस पात्र के बिना हँसी का पिटारा भला कैसे खुल पाएगा!

सूने पड़े प्रमदवन में वसन्तक उदयन से पूछता है, “आपको कौन अधिक प्रिय हैं, उस समय की माननीया वासवदत्ता या अभी की माननीया पद्मावती?” राजा उसे इस प्रेम-संकट से दूर रहने की बात कहता है। दूसरी ओर छिपकर सम्पूर्ण वृत्तांत की साक्षी रही वासवदत्ता और पद्मावती भी आर्यपुत्र की भाँति ही राजा को संकट में डाल देने का मन-ही-मन प्रश्न करती हैं। विदूषक के बार-बार अनुनय-विनय करने पर राजा उसे परिहास में बातूनी करार देते हैं। ऐसी स्थिति में वसन्तक स्वयं सत्य की शपथ लेता है और राजा को

मैत्री की सौगंध दिलाकर उनके मन की बात जान लेता है -

“पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः

वासवदत्ताबद्धं न तु तावन्मे मनो हरति।” (‘स्वप्नवासवदत्तम्’ 4।5)

अर्थात् पद्मावती अपने शारीरिक सौन्दर्य, सदाचार और वचन माधुर्य से बड़ी प्रिय है तो भी वासवदत्ता में आसक्त मेरे मन को बलात् खींच नहीं सकती। विदूषक और राजा के कथोपकथन में ऐसा दृश्य वासवदत्ता के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का भाव दर्शाता है, वहीं वासवदत्ता भी गुप्त रूप से अपने स्वामी के मुखारविंद से अपनी प्रशंसा सुनकर अज्ञातवास रूपी कालखण्ड को भी गुणों और कल्याण से भरा-भरा महसूस करती हुई कहती हैं, “दत्तं वेतनमस्य परिखेदस्य” यानी राजा से पृथक् रहकर उठाए गए समस्त कष्टों का पुरस्कार प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार पद्मावती की उदारता, उच्चकुलीन परम्परा व सपत्नीजनोचित ईर्ष्या से रहित गुण दिखाई देते हैं तो वहीं राजा का वासवदत्ता की मृत्यु के बाद के भावों से उनकी विशाल सहृदयता जैसे पक्षों को सिद्ध करती परिलक्षित होती हैं। राजा उदयन भी विदूषक से वासवदत्ता और पद्मावती के बारे में इच्छा जताते हैं। पद्मावती और वासवदत्ता आश्चर्यमिश्रित हर्ष का अनुभव करती हैं। तभी वसन्तक (विदूषक) कहता है-

“इदानीं शृणोतु भवान्। तत्रभवती वासवदत्ता मे बहुमता। तत्रभवती पद्मावती तरुणी, दर्शनीया, अकोपना, अनहंकारा, मधुर वाक् सदाक्षिण्या। अयं चापरो महान् गुणः स्निग्धेन भोजनेन माँ प्रत्युद्गच्छति वासवदत्ता कुत्र नु खलु गतः आर्यवसन्तकः।”

अर्थात् मैं वासवदत्ता का बहुत आदर करता हूँ तो भी पद्मावती युवती, सुन्दर, क्रोध व अहंकार रहित, उदार तथा मृदुभाषिणी हैं। वासवदत्ता में एक दूसरा बड़ा गुण यह था कि वह स्वादिष्ट भोजन के लिए मुझे ढूँढा करती थीं कि आर्य वसन्तक कहाँ गए?

राजा वासवदत्ता के विरह में आँसू बहाता है। लोक में आँसू बहाकर ऋण से छुटकारा पाया हुआ-सा हमारा अंतर्मन शान्ति प्राप्त कर लेता है। तभी वसन्तक राजा के मुख प्रक्षालन के लिए जल लेने चला जाता है। अवसर पाकर पद्मावती उदयन के पास पहुँच जाती है। वसन्तक का बुद्धि-कौशल यहाँ उल्लेखनीय है। जब विदूषक कमलिनी के पत्ते में राजा के लिए जल लेकर आता है तभी पद्मावती कहती है, “आर्य वसन्तक, यह क्या है?” उत्तर में वसन्तक कहता है, “काश के फूलों की धूलि वायु में उड़कर महाराज उदयन की आँखों में पड़ जाने से आँसू बह निकले हैं। इसीलिए उनके लिए मुँह धोने के लिए यह जल आप स्वीकार करें।” तभी वसन्तक राजा से कहता है, “सत्कार का बदला सत्कार से दिए जाने से प्रेम बढ़ता है। अतः आप शीघ्र ही मगधराज दर्शक के यहाँ चलें।” यहाँ चतुर्थ अंक के अंत में पद्मावती के कारण संशय में पड़े अपने स्वामी की अपने बुद्धि-चातुर्य से रक्षा कर राजा को सम्मान हेतु अन्यत्र ले जाने का प्रसंग सुनाता है।

जब राजा उदयन सिर दर्द से दुःखी पद्मावती से मिलने के लिए वसन्तक के साथ समुद्रगृह में जाते हैं पर वहाँ किसी के न होने पर मन बहलाव के लिए राजा वसन्तक से कोई कहानी सुनाने के लिए कहते हैं। विदूषक कहता है, “अस्ति नगरं ब्रह्मदत्त नाम। तत्र किल काम्पिल्यो नाम।” “ब्रह्मदत्त नाम का

एक नगर है। वहाँ का राजा काम्पिल्य है।” राजा कहता है, “मूर्ख, राजा ब्रह्मदत्त और नगर काम्पिल्य बोलो।” विदूषक स्वभाव के चलते वह राजा के नाम को नगर के नाम से मिलाकर उलट-पुलट उच्चारण करता है। राजा के मनोविनोद एवं मनोरंजन की दृष्टि से विदूषक बार-बार इस प्रसंग का उच्चारण करता है। राजा उदयन विदूषक को वासवदत्ता के जीवित होने की बात कहता है किन्तु विदूषक उन्हें यथार्थता से अनभिज्ञ रखते हुए स्वप्नीय प्रसंग बतलाकर राजा का ध्यान दूसरी ओर खींचने की चेष्टा करता है। इस प्रकार ‘स्वप्नवासवदत्तम्’ नाटक में विदूषक को वसन्त का पर्याय वसन्तक सिद्ध कर राजा उदयन और वसन्तक के कथोपकथन लोगों का भरपूर मनोरंजन कराते दिखाई देते हैं।

कालिदास के नाटकों में विदूषक का अभिनय एवं कला-कौशल

प्रकृति के चित्तेरे चित्रकार महाकवि कालिदास के नाटकों में विदूषक अपने बुद्धि-चातुर्य व जान-बूझकर मूर्खतापूर्ण प्रसंगों के साथ ही स्वभाववश अपने पेटूपन और व्यंग्यपूर्ण कथा प्रसंगों में अपनी कला का बेहतरीन प्रदर्शन कर लोगों का मनोरंजन करता दृष्टिगोचर होता है। कालिदास के ‘मालविकाग्निमित्र’ नाटक में विदूषक कथाक्रम में ही गणदास व हरदत्त की आपसी लड़ाई का ... पश्याम उरभ्रसंवादम्... रोमांचक वर्णन करता है पर पेटू विदूषक को खाने-पीने की मीठी चाशनी रूपी मिठाइयों की आदत भी कहाँ छूटती है! सरस्वती की भेंट में चढ़ाए गए लड्डुओं को लेकर गणदास से वह ईर्ष्याभाव रखता है। इतना ही नहीं वह काँटों से अपने हाथों में खून निकाल कर सबको यह भ्रामक जानकारी देता है कि उसे साँप ने काट लिया

है और मिथ्या सर्पदंश के निदान के पश्चात चेटीयाँ गौतम को न जाने क्या-क्या सुना देती हैं। इसीलिए लोगों की हँसी रुकने का नाम नहीं लेती है। छड़ी से सर्प का भय दिखाकर जिस तरह से विदूषक को भयभीत किया जाता है, वह दृश्य देखते ही बनता है।

‘अभिज्ञान शाकुन्तलम्’ में विदूषक माढव्य का अभिनय शृंगारिक-कौशल पक्ष

‘अभिज्ञान शाकुन्तलम्’ के द्वितीय अंक में राजा दुष्यन्त शकुन्तला की यादों में खोए हैं। वहीं विदूषक स्वयं अंग-भंग का बहाना बनाकर राजा को शिकार से रोकने का प्रयास करते हैं। दुष्यन्त की शिकार के प्रति रुचि समाप्त-सी हो जाती है। वैसे भी नायिकाओं के नेत्रों के सौन्दर्य के उपमान मृग नेत्रों से देकर उनकी खूबसूरती को प्रकट किया जाता है। ‘हे मृगाक्षी’ (मृग नेत्री)! जैसे संबोधन नायिका के नेत्र सौन्दर्य को दर्शाता है। शकुन्तला के साथी मृगों को देखकर ही राजा दुष्यन्त में भी मृगों के प्रति आत्मीयता का भाव जागृत हो जाता है। विदूषक यानी माढव्य राजा के अपने में ही खोए देखकर शकुन्तला के प्रणय बन्धन को समझ जाता है। राजा के यह कहने पर कि आपको मेरे एक कार्य में सहयोगी होना है, विदूषक बिना देरी किए कहता है... क्या लड्डू खाने का कार्य करना है। राजा दुष्यन्त विदूषक को कहता है, “माढव्य! तुमने देखने योग्य को नहीं देखा है।” राजा का संकेत शकुन्तला को लेकर था। विदूषक कहता है -

“भो वयस्य, ते तापसकन्यकाभ्यर्थनीया दृश्यते।”

राजा दुष्यन्त की ओर से जब शकुन्तला के लिए प्रेम की सीमाएँ बढ़ती जाती हैं तो

विदूषक बड़े ही हास्यपूर्ण ढंग से मनोविनोद पूर्वक राजा से कहता है-

“यथा कस्यापि पिण्डखजूरैरुद्वेजितस्य तित्तिण्यामभिलाषो भवेत् तथा स्त्रीरत्न परिभाविनो भवतः इयमभ्यर्थना।”

अर्थात् जैसे “पिण्ड-खजूरों को खाते-खाते अरुचि हो जाती है और मीठे की अपेक्षा खट्टी इमली खाने की इच्छा होती है, ठीक वैसे ही शकुन्तला की ओर ही आपका दिल भटक-सा रहा है।” राजा शीघ्रता से माढव्य को उत्तर देता है, “आपने (विदूषक ने) उसे (शकुन्तला को) अभी तक देखा नहीं है। देख लेंगे तो अवाक रह जाएँगे।” यानी शकुन्तला के सौन्दर्य के सामने सब व्यर्थ है। शृंगार रस प्रधान इस नाटक की मुग्धा नायिका शकुन्तला के लिए जो उदाहरण दिए हैं वे नारी-सौन्दर्य के अद्भुत सन्दर्भ कहे जा सकते हैं-

अनाघ्रातं- पुष्पं किसलयमलूनं कररुहैः...। इस श्लोक के माध्यम से शकुन्तला के सौन्दर्य के जो उपमान लिए हैं वे प्राकृतिक ही तो हैं। शकुन्तला को अनाविद्ध यानी किसी पराए व्यक्ति के द्वारा वह भोगी नहीं गई है। सचमुच, कोई भाग्यशाली ही उस स्त्री रत्न का उपभोग करने वाला होगा। कहने का भाव यह है कि ऐसी निष्कलंकता की पर्याय श्रेष्ठ स्त्रीरत्न रूपी शकुन्तला के लिए निःसन्देह कोई पावन मन ही आसक्त हो सकता है। तभी तो परिहास में विदूषक राजा से कहता है-

“तेन हि लघु परित्रायतामेनां भवान्। मा कस्यापि तपस्विन इंगुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य हस्ते पतिष्यति।”

अर्थात् हे राजन्! तब तो ज़रा भी न चूको, कहीं देर न हो जाए। मित्र कहीं ऐसा न

हो जाए कि वह निसर्गकन्या हिंगोट के तेल से चमकती-दमकती चिकनी खोपड़ी वाले किसी तपस्वी के हाथों में पड़ जाए और आप हाथ मलते ही रह जाएँ। शीघ्र ही जाकर उस अनिन्द्य सुन्दरी का कल्याण करो। दूसरी ओर शकुन्तला भी तो दुष्यन्त के प्रेम में इतनी आसक्त थी कि आश्रम से लौटते समय वृक्ष की टहनियों पर बिना उलझे ही अपने वल्कल को छुड़ाने का बहाना कर दुष्यन्त को बार-बार देखती हुई उसकी दृष्टि कहीं अन्यत्र मानो जाती ही नहीं है। द्वितीय अंक के अंत में राजा को जब यह संशय हो जाता है कि कहीं माढव्य शकुन्तला और स्वयं के प्रेम प्रसंग को अन्तःपुर की रानियों से न कह दे। तभी वह विदूषक का हाथ पकड़ कर शकुन्तला प्रेम को यथार्थ न मानने की बात कहता है ताकि वह रानियों को यह प्रणय-प्रसंग न बता सके। तभी वह कहता है, “यह (शकुन्तला प्रेम सम्बन्ध) तो परिहास मात्र ही समझना। यहाँ धीरोदात्त नायक के अनुरूप राजा ने असत्य कहा है तो भी यहाँ नर्मवचन में दोषपूर्ण नहीं माना गया है।” राजा विदूषक से कहता है, “न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायाँ ममाभिलाषः।।। परिहासविजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यतां वचः।”

इसी प्रकार छठे अंक में राजा विदूषक माढव्य से जीवन के गूढ़ रहस्य को सरल रूप से समझाते हुए कहता है-

“मित्र, विपत्तियाँ प्रायः छिद्र पाकर ही आक्रमण करती हैं।”

यानी संकट पैदा होने पर और भी बहुत-सी परेशानियाँ घेर लेती हैं। यह कथन पूर्णतः सार्थक है। लोक दृष्टि में यदि देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि किसी व्यक्ति की अच्छाई या बुराई का शंखनाद कर या तो

उसे सातवें आसमान पर पहुँचा दिया जाता है या ज़मीन पर डालकर उसके जीवन को नारकीय बना दिया जाता है।

राजा कहता है, “हे मित्र माढव्य! कामदेव ने धनुष पर आम्रमञ्जरी रूपी बाण चढ़ाकर मेरी विरह वेदना को और बढ़ा दिया है।” यानी वसन्तकाल रसिकों की प्रणय-केलियों रूपी मधुर स्मृतियों को और भी तरोंताजा बना देता है। कालिदास ने ऋतुराज वसंत को प्रेमियों के लिए विशेष बतलाया है- स्त्रियः सकामाः। प्रायः खिलते रंग-बिरंगे फूलों के साथ आम्रमञ्जरियाँ आदि कामदेव के प्रमुख आधार हैं। काम बाण रूपी हृदय को विद्ध किए जाने वाले घटनाक्रम पर मूर्खतापूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन कर वह माढव्य काष्ठदण्ड से कामदेव के बाण को मारने दौड़ पड़ता है। यह दृश्य देखकर राजा दुष्यन्त भी अपनी हँसी नहीं रोक पाए थे। इसी बीच अँगूठी को लेकर विदूषक और राजा का कथोपकथन रूपी वृत्तान्त बहुत-से प्रेमभरे पक्षों का खुलासा करता नज़र आता है।

छठे अंक में ही जब राजा शकुन्तला के लिए चित्र में चित्रांकित भौरे को वास्तव में भ्रमर जानकर उसे उपालंभ देता है तब विदूषक ही राजा को समझाता है। वहीं मातलि द्वारा विदूषक को दबोच लेना व राजा द्वारा मातलि का स्वागत-सत्कार से विदूषक का कुपित होना जैसे बहुत-से कथा प्रसंग नाटक के कथ्य को आगे बढ़ाते दृष्टिगोचर होते हैं। ‘अभिज्ञान शाकुन्तलम्’ में माढव्य न जाने कितने ही स्थलों पर राजा के अनन्य मित्र की भूमिका का भली-भाँति निर्वहन करते हुए विदूषक की हास्यपरक विविध उपमाएँ व संवाद शैली तथा कथोपकथन में एक अभिनव सन्देश देखने को मिलता है। उक्त

सन्दर्भ कालिदास के विदूषक के कला-नैपुण्य को बखूबी प्रदर्शित करते नज़र आते हैं। गेटे ने ठीक ही कहा है, “यदि पृथ्वी पर स्वर्ग के दर्शन करने हों तो कालिदास की ‘शकुन्तला’ के अतिरिक्त कोई दूसरा उदाहरण नहीं है।”

शूद्रकृत ‘मृच्छकटिकम्’ में विदूषक का ज्ञान-कौशल

शूद्रक विरचित ‘मृच्छकटिकम्’ नाटक में एक साधारण घटना यानी मिट्टी की गाड़ी पर केन्द्रित कथा में दरिद्र चारुदत्त और एक गणिका वसन्तसेना के प्रेम की काल्पनिक कथा को गढ़कर प्रस्तुत किया गया है। इसमें न केवल हँसी का ही बल्कि कथाक्रम को आगे बढ़ाने एवं प्रमुख कार्यों के एक पात्र ‘मैत्रेय’ को यहाँ विदूषक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ प्रायः विदूषक की पात्रता मैत्रेय ही निभाता दीख पड़ता है। ‘मैत्रेय’ नाटक के नायक चारुदत्त का अनन्य मित्र है, उसके सुख-दुःख का साथी है। प्रथम अंक में ही चारुदत्त मैत्रेय के पीछे चौराहे पर रदनिका को भेजते हैं तभी शकार के कथन से वसन्तसेना को चारुदत्त के घर का पता ज्ञात हो जाता है और वह चारुदत्त के घर में प्रवेश कर जाती है। वहीं दूसरी ओर शकार रदनिका को वसन्तसेना समझ लेता है और उसे पकड़ लेता है तभी मैत्रेय अपनी कर्तव्यनिष्ठा का परिचय देते हुए रदनिका की रक्षा करता है।

इस नाटक में नायक एवं मैत्रेय कथोपकथन की अपेक्षा अभिनय के द्वारा कथा को आगे बढ़ाया जाता है। मूल रूप से इस नाटक में राजाओं की अपेक्षा मध्यम एवं निम्नवर्गीय साधारण समाज का चित्र खींचा गया है। वस्तुतः यह तत्कालीन परिस्थितियों पर आधारित यथार्थता से ओत-प्रोत नाटक

है। यह यथार्थवादी इसलिए बन पड़ा है कि इसमें तत्कालीन राजनैतिक षड्यन्त्र, चोर, जुआरी, राजसेवक और गणिकाओं का बोलबाला था। इसीलिए यहाँ प्रणय प्रसंग के साथ ही उस कालखण्ड की वास्तविकताओं से भी रू-ब-रू कराता दिखाई देता है।

यहाँ पर खाने के शौकीन मैत्रेय नायक चारुदत्त के दरिद्र होने के बावजूद उसका साथ नहीं छोड़ता है तभी तो चारुदत्त उसे हर हाल में साथ देने वाला अभिन्न मित्र मानता है, “अये! सर्वकालमित्रं मैत्रेय प्राप्तः। चारुदत्त के यहाँ खाने का जुगाड़ न होने पर भी प्रायः वह रात्रि में पक्षियों के अपने-अपने घोंसलों में लौटने की भाँति ही मैत्रेय भी निस्वार्थ भाव से चारुदत्त के घर चला आता है। इस प्रकार यहाँ मैत्रेय जैसा पात्र हमें सन्देश भी देता है कि चाहे अमीरी हो या गरीबी, हर काल और परिवेश में मित्र का निःस्वार्थ भाव से सहयोग करना चाहिए किन्तु विडंबना यह है कि आज चहुँ ओर ‘सर्वं स्वार्थं समीहते’ का ही भाव नज़र आता है। चारुदत्त की एक उक्ति इस पक्ष को अधिक प्रगाढ़ करती नज़र आएगी। चारुदत्त को गरीब होने का ज़रा भी दुःख नहीं है, उसे तो पीड़ा इस बात की है कि लोग किसी व्यक्ति की निर्धनता को देखकर उससे मैत्री भी नहीं रखना चाहते -

“सत्यं न मे... हृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति।” (‘मृच्छकटिकम्’ 1.13)

श्रीहर्ष की रचनाओं में विदूषक का कला-कौशल

श्रीहर्षकृत ‘प्रियदर्शिका’ नाटिका के द्वितीय अंक में राजा विदूषक के साथ उपवन में भ्रमण कर रहे हैं। उसी समय प्रियदर्शिका पुष्पचयन के लिए आती है। प्रियदर्शिका कमलों पर उड़ते हुए भ्रमर से परेशान होकर

चिल्लाने लगती है। राजा लताकुञ्ज से प्रकट होकर उसे बचाता है। वसन्त में वत्स उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। वहीं तृतीय अंक में मनोरमा एवं विदूषक के प्रयास से दोनों के प्रणय मिलन की सफल योजना बनाए जाने का कार्य किया जाता है।

इसी प्रकार श्रीहर्ष की 'रत्नावली' नाटिका में वत्सराज उदयन नायक है जबकि विदूषक वसन्तक उसका सखा, मित्र व सहायक आदि विविध रूपों में प्रस्तुति देता है। दूसरे अंक में सागरिका विरही रूप में उदयन का चित्र उकेरती है। इसी दौरान राजा एवं वसन्तक भी उपवन में प्रवेश कर जाते हैं। सागरिका की प्रिय सखी सुसंगता चित्र लेने के बहाने से ही सागरिका और उदयन का मिलन करा देती है। वहाँ विदूषक के बुद्धि-चातुर्य एवं सुसंगता के सहयोग से यह प्रयास किया जाता है कि सागरिका वासवदत्ता के वेश में राजा उदयन के पास उपस्थित हों। इस गुप्त योजना की जानकारी उदयन की पत्नी वासवदत्ता तक पहुँच जाती है और अवसर पाकर वह सागरिका की वेशभूषा में घूँघट डाले राजा के पास आती है। राजा उसे सागरिका समझकर अपनी प्रणय योजना की कथा आरम्भ कर देता है, साथ ही वसन्तक भी उसे सागरिका यानी उदयन की प्रेमिका समझकर कहता है, "भवति सागरिके... मधुरवचनोपन्यासः।" अर्थात् 'हे सागरिके! हमारे मित्र उदयन से पट्टरानी वासवदत्ता सदा कटुवचनों से भला-बुरा कहती रहती हैं और ऐसे में महाराज भी उन कर्णकटु शब्दों को सुन-सुनकर कड़वे से यानी कठोर से बन गए हैं। अतः आप ही अपने कर्णप्रिय माधुर्यपूर्ण सरस शब्दों से महाराज उदयन का उपकार कर दीजिए" पर जब वासवदत्ता

ने पर्दा हटाकर अपना वास्तविक रूप दिखाया तो विदूषक और राजा उदयन की तो मानो पैरों तले से जमीन ही खिसक गई थी, तब क्रोधित वासवदत्ता न जाने क्या-क्या सुनाकर वहाँ से चली जाती है। राजा वासवदत्ता से क्षमायाचना करने लगता है। वहीं सागरिका इस घटना से इतनी आहत हो जाती है कि वह स्वयं अपनी जीवनलीला ही समाप्त करने को उतारु हो जाती है। राजा सागरिका को ऐसे निन्द्य कार्य से बचाता है। यहाँ उदयन का मित्र वसन्तक अपने गहरे अनुभव के आधार पर नायक उदयन का पूर्ण सहयोग कर उसे संकट से बाहर निकालने में मदद करता नज़र आता है।

भवभूति ने 'उत्तररामचरिता' आदि अपने नाटकों में विदूषक का पात्र ही नहीं रखा है। वहीं विशाखदत्त ने भी अपने 'मुद्राराक्षसम्' नाटक में इस तरह का कोई पात्र प्रस्तुत नहीं किया है। हालाँकि यह एक अलग पक्ष का विषय हो सकता है।

संस्कृत के प्रमुख प्राचीन नाटकों में विदूषक एक ऐसा पात्र है जो दर्शकों को न केवल अपनी भाव-भंगिमाओं, वाणी, वेशभूषा और अभिनय कौशल के माध्यम से हास्यरस की मंदाकिनी में गोते ही लगवाता है बल्कि नायक का सच्चा सखा और कथानक को आगे बढ़ाने में अपना विशिष्ट योगदान भी देता है किन्तु आज के दौर में मंचित होने वाले बहुत से नाटकों में विदूषक न होने के कारण नायक कहीं अधूरा-सा लगता है। नाटकों में विदूषक हास्य-शृंगारादि रसों की ऐसी रसधारा प्रवाहित करता है जिससे आम दर्शक बारिश की बूँदों की भाँति ही भीगे बिना नहीं रहते। इसीलिए 'काव्येषु नाटकं रम्यं' जैसे भावों की सार्थकता सिद्ध होती है। □

‘जिरोती’ निमाड़ का एक प्रमुख पर्व है। यह महिलाओं का प्रिय त्योहार और लोककला का अनूठा संगम है। यह पर्व लोगों के जीवन में खुशियाँ लेकर आता है। ‘जिरोती’ लोक चित्रकला का दृष्टि से एक सम्पूर्ण चित्र कहा जा सकता है। सालभर तक घर की दीवारों पर जिरोती का रंगीन भित्तिचित्र जगमगाता रहता है।



अखिलेश कुमार मौर्य

ई-मेल : akhileshutsav298@gmail.com

जिरोती : निमाड़ की लोक चित्रकला

निमाड़ मध्य प्रदेश के पश्चिमी ओर स्थित है। इसके भौगोलिक सीमाओं में निमाड़ के एक ओर विन्ध्य पर्वत और दूसरी ओर सतपुड़ा है, जबकि मध्य में नर्मदा नदी है। पौराणिक काल में निमाड़ ‘अनूप जनपद’ कहलाता था। बाद में इसे ‘निमाड़’ की संज्ञा दी गई। निमाड़ का सांस्कृतिक इतिहास अत्यन्त समृद्ध और गौरवशाली है। विश्व की प्राचीनतम नदियों में एक नदी नर्मदा का विकास निमाड़ में ही हुआ। नर्मदा-घाटी-सभ्यता का समय महेश्वर नावड़ाटौली में मिले पुरा साक्ष्यों के आधार पर लगभग ढाई लाख वर्ष माना गया है। विन्ध्य और सतपुड़ा अति प्राचीन पर्वत हैं। प्रागैतिहासिक काल के आदि मानव की शरणस्थली सतपुड़ा और विन्ध्य की उपत्यिकाएँ रही हैं। आज भी विन्ध्य और सतपुड़ा के वन-प्रान्तों में आदिवासी समूह निवास करते हैं। नर्मदा तट पर आदि अरण्यवासियों का निमाड़ पुराणों में वर्णित है। उनमें गोंड, बैगा, कोरकू, भील, शबर आदि प्रमुख हैं।

निमाड़ का जनजीवन कला और संस्कृति से सम्पन्न रहा है, यहाँ जीवन का एक दिन भी ऐसा नहीं जाता, जब गीत न गाए जाते हों या व्रत-उपवास, कथावार्ता न कही-सुनी जाती हो।

‘जिरोती’ निमाड़ की महिलाओं का सबसे प्रिय त्योहार है। इस पर्व के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि



‘हरियाली अमावस्या’ के अवसर पर जिरौती का चित्र

इसके आते ही सारे त्योहार क्रम में आने लगते हैं। यह सही भी है कि इस पर्व के बाद नागपंचमी, रक्षाबंधन, साँझाफूली, दशहरा, दीपावली एक के बाद एक त्योहार लगे रहते हैं। यह त्योहार श्रावण कृष्ण अमावस्या को आता है। लोग इसे ‘जिरौती अमावस्या’ या ‘हरियाली अमावस्या’ भी कहते हैं। वर्षा के बाद चारों तरफ़ हरियाली छा जाती है, सारा वातावरण सुन्दर हो जाता है, सावन की रिमझिम बारिश बरसने लगती है। तभी जिरौती असीम उल्लास के साथ आँगन में आ उतरती है। महिलाएँ जिरौती का हृदय से स्वागत करती हैं।

जिरौती के रेखांकन की रूपरेखा सात

दिन पूर्व बन जाती है। घर के मध्य द्वार (मझ घर में) आजू-बाजू दोनों ओर गोबर-मिट्टी से लीप-पोत दिया जाता है। निमाड़ में इसे ‘काला पोतणू’ कहा जाता है। दोनों ‘काला’ को लीपने के पश्चात् विभिन्न रंगों का उपक्रम किया जाता है। रंग भी वही प्रयोग किए जाते हैं जो देहात में ही सरलता से उपलब्ध होते हैं। सबसे पहले गोबर से लिपी हुई पृष्ठभूमि पर गेरू से लाल एक चौखटा तैयार किया जाता है। यह चौखटा एक

फ्रीट लम्बा और एक फ्रीट चौड़ा होता है। इसके लिए कोई निश्चित पैमाने का प्रयोग नहीं किया जाता। केवल आँखों को लगे कि लाल गेरू का एक चौखट बन गया है। इस चौखटे पर हल्दी और गोंद (निमाड़ी में ‘डीग’) को पत्थर के टुकड़े पर घिसकर छोटी-छोटी कटोरियों में पीला रंग संकलित कर लिया जाता है। इसी प्रकार कोयले से काला, दहीखड़ी से सफ़ेद, नील से नीला, पेवड़ी से पीला, पेड़ों की पत्तियों के रस से हरा, सेन्दुर से सिन्दूरी रंग कई कटोरियों में भर लिया जाता है। गोंद या डीग का प्रयोग रंगों के स्थायित्व के लिए किया जाता है। तुअर काठी की पहली मोटी काड़ियों में रुई

लपेटकर ब्रश (तूलिकाएँ) तैयार किए जाते हैं। ये देहाती ब्रश इतने समर्थ होते हैं कि इनके द्वारा खींची गई रेखाएँ स्वयं बोलने लगती हैं। लोकचित्तेरों के हाथ इन तूलिकाओं पर ही सधे रहते हैं। जिरोती के कलाकार घर की बहू-बेटियाँ हैं, जो पूरे मनोयोग से सात दिन पूर्व से ही जिरोती के भित्तिचित्र में रंग भरना प्रारम्भ करती हैं।

जिरोती के सारे चित्र गुणित [x] एवं धन [+] तथा खड़ी लकीर के आधार से बनाए जाते हैं। मनुष्य की आकृति के लिए गुणित [x] का चिह्न उपयोग में लाया जाता है। गुणित के चिह्न को ऊपर-नीचे से एक रेखा से बंद करके मनुष्य की धड़ बनाई जाती है। नीचे की ओर दो खड़ी लकीरें खींचने से पैर बन जाते हैं। ऊपर की ओर आयत बनाने से सिर, कान आदि अपने-आप बन जाते हैं। धड़ के ऊपरी सिरे से कुछ नीचे फिर ऊपर घुमाने से हाथ बन जाते हैं। हाथ में एक छोटी आड़ी लकीर डालकर उस पर पाँच छोटी-छोटी खड़ी लकीरें खींचने से हथेली और अँगुलियाँ बन जाती हैं। आयत के बीचोंबीच दो आड़ी एक खड़ी रेखा खींचने से आँखें, मुँह, नाक बन जाते हैं। बालक की आकृति के लिए लोकचित्तेरे और भी सरल तरीका अपनाते हैं। एक खड़ी लकीर पर ऊपर और निचले हिस्से में दो-दो तनिक तिरछी रेखाएँ मिला देने से चलते-फिरते-

दौड़ते बालक बन जाते हैं। सारी आकृतियाँ रेखाओं व ज्यामिति पर आधारित हैं। इन रेखाओं के कारण ही रामनारायण उपाध्याय ने लिखा है, “यह एक आश्चर्यजनक संयोग की बात है कि इन चित्रों का स्वरूप प्रागैतिहासिक काल के चित्रों से अत्यधिक मिलता है, शायद इसका कारण यह हो कि जिस तरह की रेखाओं से इन आकृतियों का निर्माण हुआ है उसी तरह की सरल सीधी रेखाओं से निमाड़ की इन आकृतियों का भी निर्माण हुआ है।”

जिरोती का भित्तिचित्र पारिवारिक जीवन की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें रसोईघर से लेकर सुन्दर आभूषण तक को स्थान दिया जाता है। जिरोती देवी की आकृतियों के प्रतिष्ठा हेतु पैरों के नीचे सिंहासन रूपी पालना बनाया जाता है। माथे पर सुरक्षा की दृष्टि से ‘चुनरी’ का रेखांकन



होता है। ऊपर के कोने में रसोईघर, बच्चा, रसोई बनाने वाले चूल्हा का अंकन होता है। अमरता के प्रतीक चाँद-सूरज बनाए जाते हैं। जिरोती बच्चों की रक्षा करने वाली देवी के रूप में प्रतिष्ठित है। इसलिए हर आकृति के साथ एक बच्चे का भी चित्रांकन किया जाता है। इसी के साथ रस्सी खेलती बालिका, द्वारपाल, कलश के चित्र भी बनाए जाते हैं। यह कई छोटे-छोटे चित्रों का समुच्चय है।

निमाड़ में यह मान्यता है कि चित्र में जब तक आँख नहीं बनाई जाती, तब तक उसमें प्राण नहीं आते। जिरोती का पूरा चित्र बन जाने के बाद घर की बहू-बेटियाँ ठीक हरियाली अमावस्या के दिन सुबह स्नान करके पवित्र मन से जिरोती की बनाई आँखों में काली-सफ़ेद पुतलियाँ बनाकर आँखें खोल देती हैं और दूध, दही, कुमकुम, चावल से पूजा कर 'प्राण प्रतिष्ठा' कर देती हैं। इसके बाद घर के सभी लोग एक-एक कर पूजा करके देवी का आशीर्वाद लेते हैं।

जगदीश गुप्त ने 'जिरोती' शब्द को 'जरावती' शब्द से विकसित माना है। "“जिरोती” यदि 'जरादेवी' है तो यह उसका नाम उसके स्वभाव के अनुरूप ही है, क्योंकि 'जरा' के दो अर्थ होते हैं, 'बीमारी' और 'बुढ़ापा'। जनजातियों में इस तरह के देवी-देवताओं के नामकरण की परिपाटी रही है। रोग-शोक से बचाने वाली देवी का नाम मरही देवी या मरी माता रख दिया जाता है। शीतलता प्रदान करने वाली सीतला माता, बूढ़ी माता आदि इसी तरह के देवी नाम हैं।

यहाँ जिरोती का मतलब बीमारी को दूर करने तथा कभी बुढ़ापा न दिखाने वाली देवी जिरोती या जरा देवी है। इसलिए जिरोती बच्चों की रक्षक होने के साथ बीमारियों को दूर करने वाली तथा कभी बुढ़ापे को न आने देने वाली के रूप में निमाड़ भर में युगों से पूजी जाती है।” जिरोती मूलतः कोई पौराणिक देवी है, जिसका सम्बन्ध जरासंध से हो सकता है। निमाड़ में जिरोती से सम्बन्धित अनेक मिथकथाएँ प्रचलित हैं।

जिरोती की उत्पत्ति की कई कथाएँ प्रचलित हैं। एक प्रसिद्ध कथा इस प्रकार है-

“एक गाँव में एक गरीब ब्राह्मण था। उसकी एक लड़की थी, जिसका नाम जिरोती था। वह बहुत सुन्दर थी। वह बड़ी हुई। ब्राह्मण ने योग्य वर ढूँढकर उसका विवाह कर दिया। जिरोती ससुराल गई। फूल की पेंखुड़ी से भी अधिक नाजुक जिरोती को सास दुःख देती। कटाक्ष करती। ताने सुन-सुनकर जिरोती के कान पक गए। ऐसे कई दिन, महीने, बरस बीत गए। जिरोती की कोख भी हरी नहीं हुई। सास के अत्याचार और अधिक बढ़ गए। रोज़ कोसती, यहाँ तक कि बाँझ भी कहती।

जिरोती जाए तो कहाँ जाए? मायके जाए तो बदनामी का डर। संतान देना तो भगवान की इच्छा पर है, किसी का इस पर कोई जोर थोड़े है। अब कहीं भी जाना है, ऐसा मन में सोच-विचार करके एक दिन जिरोती जंगल की तरफ़ चल दी। कई मील जाकर वह घने जंगल में पहुँच गई। थकी-हारी

पेड़ की छाँव में थोड़ा आराम करने लगी, थोड़ी देर में ही उसको नींद आ गई। पेड़ के नीचे एक नाग महाराज रहते थे। उन्होंने देखा कोई बेचारी सुनसान जंगल में अकेली है तो नाग महाराज ने अपने फन से उसके माथे पर छाँव कर दी और उसकी निगरानी करने लगे। थोड़ी देर बाद ही उसकी नींद खुली तो देखा नाग महाराज। उन्होंने कहा, “बहन! घबरा मत, मैं तो तेरी रक्षा करने के लिए हूँ। आज से तू मेरी बहन और मैं तेरा भाई। ये रिश्ता तब तक चलेगा, जब तक दुनिया रहेगी। तू जहाँ भी रहेगी, वहाँ मैं हमेशा रहूँगा।” यह कहकर नाग महाराज अपने बिल में चले गए।

इधर सुबह सास ने देखा कि आँगन में सोना-चाँदी, हल्दी-कुमकुम के पैर बने हैं। बहू के कमरे में जाकर देखा तो जिरौती वहाँ भी नहीं थी। सास तो पैर बने हुए देखकर गुस्सा करती जाती और रोती जाती। ये मैंने क्या कर दिया? मैंने बहू को बहुत दुःख दिए, वो तो देवी थी। गाँव के सभी लोग इकट्ठा हो गए। जहाँ-जहाँ हल्दी-कुमकुम के पैर दिखे, वहीं-वहीं लोग उसे ढूँढने लगे। जंगल में सबने देखा कि जहाँ-जहाँ जिरौती के पैर बनते गए, वहाँ के सारे पेड़ों में सोना-चाँदी के फूल खिल गए। जंगल के पशु-पक्षी खुशियों के मारे गीत गा रहे हैं।

जिरौती अपने मायके पहुँची। बाहर के कमरे में दरवाजे के कोने में बैठ गई। बिन बुलाई शादीशुदा लड़की को देखकर माँ ने कहा, “क्यों! कहाँ से आ गई कवला

जिरौती।” मायके के ताने सुनकर जिरौती का मन खट्टा हो गया, उसने मन में सोचा, इससे तो मरना अच्छा। ऐसा सोचते ही जिरौती ने वहाँ प्राण त्याग दिए। सबने देखा दरवाजे के दोनों ओर कोने में छोटी-छोटी पुतलियाँ बन गई हैं। पुतलियों के पास छोटे-छोटे बच्चे खेलते नज़र आए। इतनी देर में ससुराल वाले ढूँढते आ गए। गाँव के लोग भी इकट्ठा हो गए। सभी लोगों की जुबान पर जिरौती का नाम था। भीड़ में से जिरौती के भाई नाग महाराज प्रकट हुए। नाग देवता ने कहा, “जिरौती मेरी बहन है। जो देवी थी, उसको किसी ने पहचाना नहीं। आज से वह ‘कवला जिरौती देवी’ के नाम से हर घर के दरवाजे के दोनों कोने में पूजी जाएगी। जिरौती बच्चों की रक्षा करने वाली देवी कहलाएगी। जिरौती के आते ही सभी त्योहार आएँगे।” नाग देवता चार दिन तक बिना खाए जिरौती की रक्षा करते रहे। पाँचवें दिन नाग महाराज ने भी अपने प्राण त्याग दिए। तभी से आषाढ़ अमावस्या के दिन जिरौती देवी दरवाजे के कोने पर दोनों ओर बनाई जाती है और पाँचवें दिन नागपंचमी को नाग महाराज भी बनाए जाते हैं। दोनों भाई-बहन की याद में पूजा हुई, वह आज तक चली आ रही है।

जिरौती के दिन महिलाएँ व्रत रखती हैं, पूजा करती हैं और शाम को जिरौती की कथा आपस में सुनाती हैं, प्रसाद बाँटती हैं। महिलाएँ जिरौती की आरती भी करती हैं। □



भारत के दुर्ग

किसी भी पुस्तक से पाठक की दो महत्वपूर्ण अपेक्षाएँ होती हैं। एक, वह इतनी बोधगम्य और रोचक हो कि बार-बार पढ़ी जाए, और दूसरी, वह पाठक की वांछित जिज्ञासा की पूर्ति करती हो। 'भारत के दुर्ग' के रूप में लेखक ने पाठकों को एक ऐसी कृति दी है जो इस कसौटी पर खरी उतरती है। हिन्दी में कदाचित् पहली बार इस समृद्ध दुर्ग परम्परा का ऐतिहासिक, सामाजिक, पुरातात्विक एवं वास्तुशिल्पीय विवरण देने का प्रयास इस पुस्तक में हुआ है।

यह पुस्तक पचास शीर्षकों में पूरी होती है। प्रथम प्रकरण पढ़ने की प्रक्रिया में ही पूरी पुस्तक पढ़ने की ललक जाग उठती है। गहन शोध पर आधारित इस पुस्तक के प्रारम्भ के 30-35 पृष्ठों में दुर्गों की भारतीय अवधारणा, दुर्ग की अवस्थिति, दुर्गों के पुरावशेषों, दुर्ग के विविध स्वरूपों, उनकी संरचनाओं और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक धरोहरों के संरक्षण में दुर्गों की भूमिकाओं का विवेचन जितना वस्तुपरक है, उतना ही मनोरंजक भी। आगे के लगभग 185 पृष्ठों में देशभर के दुर्गों की गाथाएँ हैं। तथ्यों के साथ-साथ ऐतिहासिक, पौराणिक और लोक-प्रचलित कथाओं की बदौलत ये गाथाएँ ज्ञानवर्धक बन गई हैं और रुचिवर्धक भी। छायाचित्रों और रेखांकनों से भरी-पूरी यह पुस्तक साहित्यिक शैली में है।

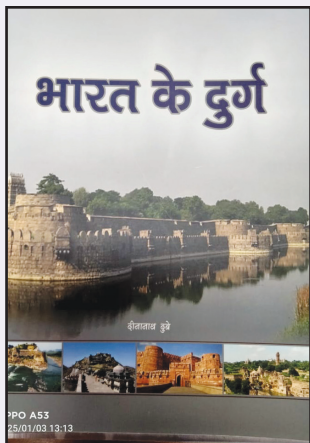
इस पुस्तक में देश के विभिन्न भागों में स्थित छोटे-बड़े किलों का विस्तृत वर्णन है। भारत के इतिहास को अपने में संजोए दुर्ग जहाँ एक ओर हमारी विरासत और सांस्कृतिक परम्पराओं की कहानी कह रहे हैं, वही इनका शिल्प और स्थापत्य-कला भारतीय एकता एवं अखण्डता को अभिव्यक्त कर रहा है।

राजवंशों और जन सामान्य को समृद्धि और पतन के दौर दिखाने वाली नियति की पदचाप इन किलों में आज भी सुनी जा सकती हैं। ये दुर्ग इतिहास की धड़कनों को संजोए हुए हैं।

यह पुस्तक पर्यटकों के लिए एक गाइड की तरह, संस्कृति-धर्मी को स्मृति-संवेदना की तरह, वास्तुकार को विरासत की 'क्लासिकी' शिल्प का संस्कार देती है और शोधार्थी को सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति जिज्ञासा जगाती है। समग्र दृष्टि से यह पुस्तक पठनीय व मनोहारी है।



समीक्षक : ममता रानी



पुस्तक : भारत के दुर्ग

लेखक : दीनानाथ दुबे

पृष्ठ : 253; मूल्य : 425 रुपये

पुस्तकें खरीदने और सूची देखने
के लिए प्रकाशन विभाग की वेबसाइट
publicationsdivision.nic.in देखें
वेबसाइट पर जाने के लिए QR कोड स्कैन करें।

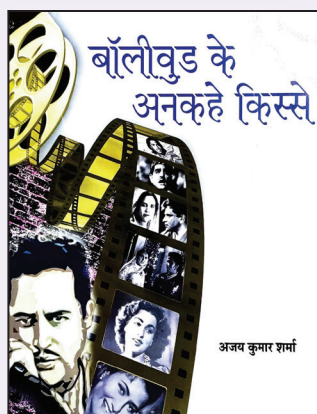


पुस्तक को क्यों पढ़ें...

पुस्तक के माध्यम से अनेक दिलचस्प, प्रामाणिक और ज्ञानवर्धक किस्सों से सिने पाठकों को समृद्ध बनाने की सार्थक कोशिश की गई है।

बेहतर होता अगर...

पुस्तक की कीमत कम होती तो अधिक-से-अधिक पाठक इसे खरीद सकते। 'बॉलीवुड के अनकहे किस्से' शीर्षक है किन्तु ये किस्से सामान्यतः नई पीढ़ी के लिए अनकहे हो सकते हैं, पुरानी पीढ़ी के लिए नहीं।



पुस्तक : बॉलीवुड के अनकहे किस्से

लेखक : अजय कुमार शर्मा

प्रकाशक : संधीश पब्लिकेशन प्राइवेट लि., प्लॉट नम्बर-1, प्लैट नं. एस 2 डीएलएफ़, अंकुर विहार, लोनी, गाज़ियाबाद (उत्तर प्रदेश)

पृष्ठ : 142; मूल्य : 750 रुपये

(हार्ड बाउंड)

हिन्दी सिनेमा के नायाब किस्से

सिनेमा को बीसवीं सदी की महानतम उपलब्धि माना जाता है और इक्कीसवीं सदी में भी इसका जादू बरकरार है। जाने-माने साहित्यकार और सिनेमा पर गम्भीरता से लिखने वाले विष्णु खरे ने 'सिनेमा पढ़ने के तरीके' पुस्तक में सिनेमा की लोकप्रियता पर लिखा है, "जबसे फ़िल्में बननी और दिखाई जानी शुरू हुई हैं तभी समझ लिया गया था कि वे मनोरंजन के अलावा भी कई सवालों को उठाती हैं और अब तो सिनेमा को कला का दर्जा देकर उसे सभी कलाओं का सिरमौर कहा जाने लगा है।" 'पंचतन्त्र' को 'कहानियों का सागर' कहा जाता है। इसकी हर कहानी हमारा मनोरंजन करती है और बेहतर ज़िन्दगी जीने की सीख भी देती है।

सिनेमा पर नियमित लेखन करने वाले अजय कुमार शर्मा ने सिनेमा के दिलचस्प किस्सों को जादुई अंदाज़ में प्रस्तुत किया है अपनी पुस्तक 'बॉलीवुड के अनकहे किस्से' में। पुस्तक में लेखक ने तीन अध्यायों 'पुराने किस्से', 'कैसे कैसे किस्से' और 'फ़िल्मों के किस्से' में रोचक भाषा शैली में अपनी अद्भुत किस्सागोई से पाठकों को बाँधे रखा है। पठनीयता की दृष्टि से यह पुस्तक प्रशंसनीय है। पहले किस्से से लेकर अंतिम किस्से तक लेखक की कलम का जादू बरकरार रहता है। सिने लेखक अजय कुमार शर्मा ने पुस्तक की भूमिका में सिनेमा के जादू के बारे में लिखा है, "सिनेमा के साथ बड़े होते-होते उसकी चमक की सच्चाई की रहस्यमयी पतें भी खुलने लगीं। अच्छे और कालजयी सिनेमा से पहचान बनी तो लोकप्रिय सिनेमा की अच्छाई और बुराई को भी परखा लेकिन उससे प्यार में कोई कमी नहीं आई।"

पहले अध्याय, 'पुराने क्रिस्से' में लेखक ने हिन्दी सिनेमा के प्रारम्भ से लेकर छठे और सातवें दशक की फ़िल्मों से जुड़े क्रिस्सों से पाठकों को सहज अंदाज़ में रू-ब-रू कराया है। 'मुग़ले आज़म' फ़िल्म में अकबर के किरदार को कालजई बनाने वाले पृथ्वीराज कपूर को किस तरह उनके प्रोड्यूसर ने ही चूना लगाया, उसका दिलचस्प क्रिस्सा लेखक ने एक रोचक फ़िल्म की कहानी की तरह प्रस्तुत किया है। 'सेनापति' फ़िल्म के निर्माता ने बहुत दिनों तक पृथ्वीराज कपूर को पारिश्रमिक की कोई किश्त अदा नहीं की तो पृथ्वीराज ने शूटिंग करने से मना कर दिया। निर्माता हारकर पृथ्वीराजजी से उनकी कार की चाबी लेकर पैसे का इंतज़ाम करने निकला। लौटकर मेहनताने की किश्त तीन हज़ार का भुगतान किया। पृथ्वीराज कपूर बहुत प्रसन्न हुए। घर आकर उन्होंने अपनी पत्नी से कहा, "आज हम उस कंजूस मोहला (निर्माता) से रुपये ले आए!" पत्नी ने पूछा, "कितने रुपये?" "तीन हज़ार हैं।" पत्नी बोली, "आपके रुपये आपके हाथ में आ गए।" वास्तव में फ़िल्म निर्माता ने पृथ्वीराज कपूर की पत्नी से कहा कि कपूर साहब ने तीन हज़ार रुपये मँगवाए हैं। निर्माता पृथ्वीराजजी की कार से आया था इसलिए कपूर साहब की पत्नी ने तुरन्त पैसे दे दिए।

दूसरे अध्याय 'कैसे-कैसे क्रिस्से' में लेखक ने शम्मी कपूर, राजकुमार, कैमरामैन राधू करमाकर, ऋषि कपूर, हेमा मालिनी, प्रेम चोपड़ा, मनोज कुमार, आनंद बक्शी, राजेन्द्र कृष्ण, राजेश खन्ना, ओम शिवपुरी, मन्नू भंडारी, बासु चटर्जी आदि की फ़िल्मों और जीवन से जुड़े दिलचस्प क्रिस्सों को अपनी लेखनी से मनमोहक अंदाज़ में पेश किया है। इस अध्याय का सबसे रोचक और

प्रेरक क्रिस्सा 'जब रफ़ी साहब ने आनंद बक्शी के बेटे का एडमिशन कराया' है।

तीसरे अध्याय 'फ़िल्मों के क्रिस्से' में लेखक ने कुछ चुनिंदा चर्चित फ़िल्मों के बनने के दौरान आने वाली परेशानियों और विवादों का रोचक वर्णन किया है। इस अंतिम अध्याय में लेखक ने गुरुदत्त की फ़िल्म 'बाज़ार', विजय आनंद निर्देशित फ़िल्म 'काला बाज़ार', राजेन्द्र कुमार अभिनीत फ़िल्म 'पालकी', कमाल अमरोही द्वारा निर्मित और किशोर साहू द्वारा निर्देशित 'दिल अपना और प्रीत पराई', के. आसिफ़ की महत्वाकांक्षी फ़िल्म 'लव एण्ड गॉड', ऋषिकेश मुखर्जी की फ़िल्म 'आनंद', यश चोपड़ा द्वारा निर्देशित फ़िल्म 'कभी-कभी' में ऋषि कपूर ने कैसे न चाहते हुए 'हाँ' की, के रोचक प्रसंग दिए हैं।

इसी तरह कमाल अमरोही ने किशोर साहू को 'दिल अपना और प्रीत पराई' के निर्देशन की ज़िम्मेदारी सौंपी। कमाल अमरोही के अनेक हस्तक्षेपों के बावजूद किशोर साहू ने फ़िल्म पूरी की। फ़िल्म के प्रिव्यू के दौरान कमाल अमरोही ने फ़िल्म को नापसन्द किया और कहा कि यह फ़िल्म कामयाब नहीं होगी। किशोर साहू ने कहा कि फ़िल्म सिल्वर जुबली मनाएगी। अमरोही ने कहा कि यदि फ़िल्म सिल्वर जुबली हुई तो वह साहू को कार भेंट करेंगे। अमरोही ने फ़िल्म की असफलता के डर से निर्माता के रूप में अपना नाम न देकर अपने प्रोडक्शन मैनेजर बाकर का नाम दिया। संयोग से फ़िल्म सिल्वर जुबली हुई। साहू ने अमरोही को याद दिलाया कि उन्होंने कार देने का वायदा किया था। अमरोही ने जवाब दिया, "गिफ़्ट दिया जाता है, माँगा नहीं जाता।" □

समीक्षक : इंद्रजीत सिंह

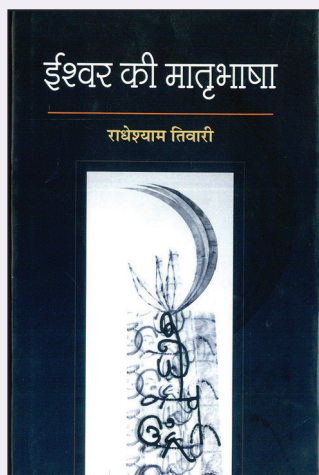
ई-मेल : indrajeetrita@gmail.com

पुस्तक को क्यों पढ़ें...

बहुप्रचलित शब्दों और छोटे-छोटे वाक्यों के सहारे बुनी गई, गम्भीर और प्रभावोत्पादक कविताएँ, प्रकृति के सुपरिचित विराट संसार को प्रत्येक कोणों से परखते हुए, व्यापक दृष्टि के साथ उकेरी गई कविताएँ इस संग्रह को पठनीय बनाती हैं।

बेहतर होता अगर...

पुस्तक का मूल्य कम होता तो अधिक-से-अधिक पाठकों की पहुँच तक जाती।



पुस्तक : ईश्वर की मातृभाषा (कविताएँ)

कवि : राधेश्याम तिवारी

प्रकाशक : इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, के-71, कृष्णा नगर, दिल्ली-110051

पृष्ठ : 136; मूल्य : 450 रुपये

(हार्डबाउंड)

अंतर्निहित लय की कविता

किंसी भी रचनाकार में सघन या विरल, वैचारिकता की उपस्थिति होती है और कतई ज़रूरी नहीं है कि वैचारिकता का आग्रह मुखर ही हो। राधेश्याम तिवारी की कविताओं में वह शोर, नारा या प्रतिवाद का स्वर मुखर नहीं है बल्कि उनकी कविताओं में एक अंतर्निहित लय है, एक खामोशी का स्वर है जो कविताओं को मुकम्मल अर्थ देता है। अपनी संरचना में बेहद सरल सामान्य शब्दों से बने वाक्य के सहारे राधेश्याम तिवारी की कविताएँ आगे बढ़ती हैं और आखिरी पंक्तियों तक आते-आते जब कविता का अर्थ खुलता है तो कवि के अंतस का सारा अंतर्द्वंद्व और वैचारिक चेतना का स्पष्ट स्वरूप प्रकट होता है। मेरी इस स्थापना के आलोक में प्रस्तुत संग्रह 'ईश्वर की मातृभाषा' की एक कविता 'शंख' को देखें—

‘समुद्र मंथन में/ बाक्री चीजों के साथ/ शंख भी निकला/ लक्ष्मी ने माना इसे/ अपना भाई... कृष्ण का यह/ पाँचजन्य बना/ अर्जुन का देवदत्त/युधिष्ठिर का अनंतविजय/ भीष्म का पौंड्रिक/ नकुल का सुघोष/ और सहदेव का/ मणिपुष्पक मगर समुद्र मंथन से/ जब यह निकला होगा/ तो उसके साथ जीवित/ घोघा भी होगा ही/ जो उसका मुँह बंद किए होगा/ और जब तक मुँह बंद रहेगा/ कौन पूछेगा इसे शंख ही है/ जो बोलने के लिए मरता है/ मगर मरा हुआ आदमी/ ऐसा नहीं करता है।’

यह कविता अंतिम पंक्तियों में अपनी पूरी वैचारिक

चेतना के साथ खड़ी होती है और पाठकों की चेतना को झकझोर जाती है। यह कवि की विशेषता है।

कवि का एक अपना शिल्प है जो अपनी तरह का अनूठा शिल्प है। इसी संग्रह की एक कविता 'रिश्तों की उम्र' है—

‘फूलों की तरह नाजुक होते हैं रिश्ते...
जीवन की तरह ही रिश्तों की भी अपनी उम्र होती है... वे पीले पत्तों की तरह/ हवा का हल्का झोंका भी/ सह नहीं पाते/ और पेड़ों से नाता तोड़कर/ दूर चले जाते/ यह पेड़ों की उदासी का समय होता है

रिश्ते पेड़ों से पत्तों के हों/ या आदमी से आदमी के/ जब टूटते हैं तो दोनों टूट हो जाते हैं।’

वृद्धाश्रम को याद करते हुए लिखी गई ‘उदास शामें’ कविता का अंश—

‘वृद्धाश्रम में कभी सूर्योदय नहीं होता/
हाँ, वहाँ एक साथ जीवन की/ कई उदास शामें आस-पास बैठकर/ बातें जरूर करती हैं सूर्योदय पर... कई असहाय आवाज़ें आती हैं/ मानो कह रही हों जैसे/ ‘कभी देखे थे हमने/ सूर्योदय के सपने...’

उनकी गहरी उदास आँखों में/ झाँक कर देखा तो/ अब उनमें सपने नहीं थे

जीवन में इससे बड़ा दुःख भला/ और क्या हो सकता है/ कि आदमी बचा रह जाए/ और सपने मर जाएँ।’

पाश की कविता में सपनों के मर जाने का सन्दर्भ जहाँ सम्पूर्ण मानव जीवन को एक नए वैचारिकी से आलोड़ित करता है और

सपनों के बिना जीवन की निस्सारता और अर्थहीन जड़ता को क्रान्तिधर्मी धमक से विलोपित करने की कोशिश करता है, वहीं इस कविता में यह सन्दर्भ मृत्यु की प्रत्याशा में जिए जा रहे, व्यतीत हो रहे जीवन के उदास, निराश, खुरचन-से बचे समय में व्यक्ति से पहले उसके सपनों के मर जाने की उदास, तरल हकीकत का आख्यान है। इन पंक्तियों को पढ़ते हुए पाठक अनायास ठिठककर सोचने के लिए बाध्य होता है।

कवि की चिन्ता में जहाँ शामिल है प्रकृति और पर्यावरण को परिभाषित करने वाली पृथ्वी, सूरज, नदी, बादल, आकाश, खेत, वहीं बाज़ारवाद, मानवीय सम्बन्धों की जटिलताओं और दुराग्रहों के प्रति उनकी सहज चिन्ता भी शामिल है।

उनके ‘योगदान’ शीर्षक कविता देखें—

‘हवा के बहने में/ या जीवन के रहने में/ नहीं है हमारा कोई योगदान/ सूरज के आने में/ या उसके जाने में/ नहीं है हमारा कोई योगदान... नदियों के बहने में/ या मछलियों का उनमें रहने में/ नहीं है हमारा कोई योगदान तो फिर क्यों थोप दी गई है हम पर/ जाति-धर्म की पहचान/ जिसमें नहीं है हमारा कोई योगदान।’

बहुत छोटे से सूत्र को पकड़कर ये कविताएँ खड़ी होती हैं और हमारे सामने एक प्रश्नचिह्न बनकर उभरती हैं। □

समीक्षक : ऋषिकेश

ई-मेल : rishikesh_dec@yahoo.co.in

पुस्तक को क्यों पढ़ें...

व्यवहारिक व्यवहार को केन्द्र में रखकर लिखी गई, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता को दूर कर वैज्ञानिक सोच को आधार बनाती कहानियाँ हैं।

बेहतर होता अगर...

साज-सज्जा साधारण है और पुस्तक का मूल्य भी अधिक है। कुछ कहानियाँ या तो अनावश्यक रूप से लम्बी हैं या फिर तुरत-फुरत रूप से समाप्त।



पुस्तक : आखिरी ख्वाहिश (कहानी-संग्रह)

लेखक : अश्विनीकुमार दुबे

प्रकाशक : इंक पब्लिकेशन, 333/1/1के, नया पुरा, करेली, प्रयागराज (उत्तर प्रदेश)

पृष्ठ : 172; मूल्य : 400 रुपये

इंद्रधनुषी रंगों से रंगी कहानियाँ

साहित्य यदि समाज का दर्पण है तो कहानियाँ संस्कृति की खिड़कियाँ! व्यक्ति, परिवार, गाँव, कस्बे शहर, प्रदेश, देश भूभाग और अंत में विश्व, इन सभी का माइक्रोस्कोपिक/खुर्दबीन पड़ताल पेश करती हैं। कहानियों/कथाओं को हम स्थानीय संवाददाता से सम्पादक का पर्याय भी मान सकते हैं। अस्तु साहित्य की एक सशक्त विधा जिसमें रंगों और भावों का नैनो संसार या फिर भवसागर समाया, समझाया, पढ़ा और महसूस किया जा सकता है।

कहानी की एक और खासियत यह भी है कि डिजिटल होती दुनिया में यह पाठकों और वह भी युवाओं की पहली पसंदीदा वरीयताओं में आती है। हमारे देश में कथा साहित्य पर बहुत काम हुआ है। तिस पर भी देश में जनसंख्या बाहुल्य, भाषा और भौगोलिकता की वैभिन्नता को देखते हुए अभी भी कहानी आकाशगंगा को और अधिक अनुसंधानित और सृजित करने की महती आवश्यकता है। कहानी जगत में साहित्यकार ही नहीं वरन साहित्य से इतर लेखक भी अपने लेखन की छटा बिखेरते रहते हैं।

समीक्षित कहानी-संग्रह के कथाकार हैं अश्विनी कुमार दुबे। 'आखिरी ख्वाहिश' में कुल अठारह कहानियाँ हैं जो जीवन के इंद्रधनुषी रंगों-सी पूरे संग्रह में पाठकों को विभिन्न रंगों और भावों से सराबोर करती हैं। कुछ कहानियाँ बेहद लम्बी हैं तो कुछ लघु कथा के फ़ॉर्मेट से थोड़ी-सी बाहर हो कहानी की परिधि में आ गई हैं। शेष कहानियों में आज की ज़िन्दगी कभी कुलाचें भरती तो कभी उसांस भरती पाठकों को एक अलग से संसार में ले जाती हैं।

ऐसी ही एक कहानी है 'आखिरी ख्वाहिश' और यही कहानी-संग्रह का शीर्षक और मुख्य कहानी प्रतीत होती है यथा जेनरेशन गैप, अविभाजित भारत और फिर

उमड़ती-घुमड़ती यादों के रोलर कोस्टर पर सवार है। भारत और पाकिस्तान के राजनैतिक, सामाजिक और समीचीन सन्दर्भ को नैसर्गिक रूप से उकेरती हुई यह कहानी संगीत और उसकी बारीकियों के साथ-साथ पड़ोस में फैली संकीर्ण मानसिकता रेडियो कार्यक्रम में मिली निर्देशों के माध्यम से बहुत कुछ कह जाती है। कहानी का अंत भी संवेदनशील अंदाज़ में हुआ है। लेखक आज के भारत में व्याप्त समस्याओं यथा भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी, दहेज प्रथा जैसी कुरीतियों को कहानी के मुख्य पात्र पूर्व स्वतन्त्रता सेनानी सुखराम शास्त्री के मुख से प्रभावी ढंग से कही गई हैं। इसी क्रम में कहानी 'डर' में सरकारी संस्थानों में कार्य संस्कृति के ढर्रे को भी बताया गया है।

लेखक अपनी दो और कहानियों यथा 'आशीर्वाद' और 'हाँ, मैं नास्तिक हूँ' में लीक से हटकर अलग मंज़ूर पेश करने के प्रयास में सफल हुए हैं। 'आशीर्वाद' में अंधविश्वास से लड़ता एक पिता किस प्रकार खड़ेश्वरी महाराज, तान्त्रिकों, ज्योतिषियों से पुत्र और उसके व्यवसाय को कड़ी मेहनत और सूझ-बूझ से बचाना एक अनुभवी और व्यवहारिक वैज्ञानिक सोच को दर्शाया गया है। वहीं दूसरी कहानी में फूलों को देवस्थानों में चढ़ाने और किसी अन्य के द्वारा लेखक के घर की बगिया से फूलों की चोरी और उसे चुपचाप ले जाने वाले से संवाद के माध्यम से लेखक कुछ कहना चाहता है पर क्या? यह स्पष्ट नहीं हो पाया। लेखक ने कहानी की शुरुआत तो अच्छी की परन्तु बाद में पाठक कहीं नहीं पहुँच पाता है।

एक और कहानी 'अभिषप्त दांपत्य' है जो एक पढ़े-लिखे सुसंस्कृत विद्वान पुरुष और समूचे परिवार के उत्पीड़न की कहानी उसी की पत्नी के द्वारा की गई कहानी है।

यह कहानी बेहद मर्मस्पर्शी बन पड़ी है तिस पर भी अनावश्यक रूप से लम्बी खींची गई प्रतीत होती है। समीक्षित कहानी-संग्रह में कहानियाँ मानव मन और समाज के विभिन्न आयामों को कवर करती और पाठकों को वास्तविकता के धरातल पर बाँधे रखती हैं।

सामाजिक सद्भाव और आपसी सौहार्द को बढ़ाती कहानियाँ यथा 'दिवाकर जी', 'रामरहीम का काम', 'दंगे' इन्हीं आयामों को विस्तारित करती नज़र आती हैं। भ्रष्टाचार को उजागर करती कहानी 'लूप लाइन' एक सहज और सार्थक कहानी कही जा सकती है। 'जीवंत कविता' एक अप्रतिम रचना कही जा सकती है, बड़े-बड़े साहित्यिक नाम (यहाँ पर जगदीश विकल) असलियत में क्या होते हैं, बाहरी जगत व मीडिया भी उन्हें ही सपोर्ट करता है।

लेखक ने महिलाओं के मनः स्थितियों और मनोविकारों को बहुत ही खोजपूर्ण और तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। कहानी 'आपको इतना गुस्सा क्यों आता है'? और 'अभिषप्त दाम्पत्य' इसी की प्रभावी नज़ीर साबित हुई प्रतीत होती हैं।

कहानी-संग्रह की अंतिम कहानी 'मन का रसायन शास्त्र' है। यह कहानी परिपक्व व्यक्तित्व, जल्दबाज़ प्रेमी नायिका, पहले प्रेमी और बाद में पति, पहले प्रेम और फिर झगड़े, तत्पश्चात नायिका का परिपक्व मित्र के पास पुनः प्रेम याचना लेकर जाना, तलाक़ की बात करना, ठहरे और स्थितप्रज्ञ व्यक्तित्व सत्येन्द्र द्वारा नायिका के मन को समझ सही सलाह देना और हल्के-फुल्के माहौल का पैदा हो जाना, एक सृजनात्मक और सुखांत पाठकों को आशावादी बनाता है। □

समीक्षक : सूर्यकांत शर्मा

ई-मेल : suryakant_sharma03@yahoo.co.in

● आदिवासी लोककलाओं के उत्सव का ऐतिहासिक सप्ताह

संस्कृति और साहित्य के संरक्षण के प्रति बेहद संवेदनशील और भारत सरकार ने वर्तमान में अत्यंत रचनात्मक एवं ज़रूरी कदम उठाए हैं। इन्हीं महत्वपूर्ण प्रयासों के परिणाम में विगत 15 नवम्बर, 2022 को भारत सरकार ने बिरसा मुंडा के जन्मदिवस के अवसर पर आयोजित समारोह में 15 नवम्बर को 'जनजातीय गौरव दिवस' के रूप में मनाने की घोषणा की जिसे उत्तर प्रदेश सरकार ने अपनी प्रतिबद्धता में शामिल करते हुए उक्त अवसर पर उत्तर प्रदेश लोक एवं जनजाति संस्कृति संस्थान द्वारा बभनी सोनभद्र उत्तर प्रदेश में अनेकों आयोजन किए। इस श्रृंखला में पिछले वर्ष भी उत्तर प्रदेश लोक एवं जनजाति संस्कृति संस्थान संस्कृति विभाग उत्तर प्रदेश लखनऊ, पर्यटन विभाग उत्तर प्रदेश, जनजाति विकास विभाग उत्तर प्रदेश, अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति, शोध एवं प्रशिक्षण संस्थान लखनऊ, संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार एवं संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार द्वारा स्थापित क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्रों-जवाहर कला केन्द्र जयपुर, छत्तीसगढ़ राज्य भागीदारी भवन तथा उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी के संयुक्त तत्वावधान में 'जनजाति भागीदारी उत्सव' का आयोजन 15 नवम्बर, 2023 से लेकर 20 नवम्बर, 2023 तक उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी गोमती नगर लखनऊ में किया गया था।

आयोजनों की इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुए 15 नवम्बर, 2024 को भी उत्तर प्रदेश लोक एवं जनजाति संस्कृति संस्थान लखनऊ, पर्यटन विभाग उत्तर प्रदेश, जनजाति विकास विभाग उत्तर प्रदेश, समाज कल्याण विभाग उत्तर प्रदेश, संगीत नाटक अकादमी उत्तर प्रदेश, अनुसूचित जाति

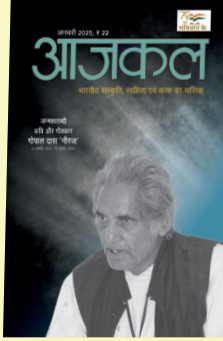


एवं अनुसूचित जनजाति उत्तर प्रदेश, शोध एवं प्रशिक्षण संस्थान लखनऊ, भारतीय सांस्कृतिक संबद्ध परिषद नई दिल्ली एवं इफ़को टोकियो के संयुक्त तत्वावधान में 'अंतरराष्ट्रीय जनजाति भागीदारी उत्सव' का आयोजन उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी लखनऊ के परिसर में किया गया जिसमें 22 राज्यों से आमंत्रित 38 लोक कलाकारों के दलों के लगभग 600 कलाकारों ने अपनी सम्मोहनीय प्रस्तुतियों से छह-दिवसीय इस आयोजन में चार चाँद लगाए। 15 नवम्बर, 2024 को प्रदेश के मुख्यमन्त्री द्वारा इसका उद्घाटन हुआ।

—प्रस्तुति: रजनीश पाण्डेय, ई-मेल : rpandey14987km@gmail.com

अब उपलब्ध

नये कलेवर, आकार, सभी रंगीन पृष्ठों और नए स्तम्भों के साथ



**हिन्दी साहित्य विषय के प्रतियोगियों
के लिए भी उपयोगी**

सदस्यता के लिए स्कैन करें



प्रकाशन विभाग

सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार

सूचना भवन, सी जी ओ कॉम्प्लेक्स, लोधी रोड, नई दिल्ली - 110003

वेब साइट: publicationsdivision.nic.in

डाक तार पंजीयन सं. डीएल(एस)-05/3222/2024-26

Magazine Post No. DL(DS)-42/MP/2025-26-27

U(DN)-49/2021-23 Licenced to post without pre-payment at RMS Delhi

● 10 जनवरी 2025 को प्रकाशित ● 21-22 जनवरी 2025 को डाक द्वारा जारी

ISSN: 0971-8478

आरएनआई : 701/57



उस्ताद ज़ाकिर हुसैन

(9 मार्च, 1951 - 15 दिसम्बर, 2024)

(श्रद्धांजलि लेख भीतर के पृष्ठों में)

प्रकाशक व मुद्रक : शेफाली बी. शरण, प्रधान महानिदेशक, प्रकाशन विभाग द्वारा राज प्रिंटर्स, ए-9 सैक्टर बी-2, ट्रोनिगा सिटी, लोनी, गाज़ियाबाद (उत्तर प्रदेश) से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सीजीओ कॉम्पलेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित। सम्पादक : फ़रहत परवीन